सरल भाषा में गीता को समझने
और जीवन में भर लेने के लिये
ाता-अध्ययन' बड़े काम की पुस्तक है।

गीता अध्ययन

गीता का विचार और सुन्दर सार

लेखक
अ. भा. रेडियो से गीता के सुप्रसिद्ध व्याख्याता
श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

मुद्रक— जमना प्रिंटिंग वर्क्स, देहली।

द्वितीय बार २०००

१९४९

मूल्य १॥)

Govt of Himachal Pradesh
SIMLA, W.

Pandit Dina Nath Dinesh Has been well known as one of the most successful broadcasters on the Gita.

...He is in the direct line of descent of the great teachers of the masses who understood and made the teaching of the Shastras understood by the people.

...His is the way by which the culture of this country truly became national property...

(Sd) N.C. MEHTA
Chief Commissioner,
Himachal Pradesh.

यह कथा सब सुखों की नींव है

अब आप लोग एक प्रौढ़ और गम्भीर कथा सुनें। यह कथा सकल कथाओं की जन्मभूमि है। विवेकरूपी वृक्षों का एक अपूर्व उपवन है। यह कथा सब सुखों की नींव है, सिद्धान्त-रत्नों का भण्डार है, अथवा नव-रस रूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है। अथवा यह खुला हुआ परमधाम है, सब विद्याओं की आदि पीठ और समस्त शास्त्रों का निवासस्थान है।

आत्म-ज्ञान की कोमलता इससे दूनी हुई है। चातुर्य को इसी कथा से चतुराई प्राप्त हुई है। सिद्धान्त इसीसे रुचिर बने हैं, भक्ति रस इसी से स्वादिष्ट हुआ है और सुख का सौभाग्य इसीसे पुष्ट

हुआ है। इसीसे माधुर्य को मधुरता, शृंगार को सुन्दरता और अच्छी बातों को लोकप्रियता हुई है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ जो संवाद वि वह गीता-प्रकरण इस भारत ग्रन्थरूपी कमल पराग है। विरक्त जिसकी इच्छा करते हैं, स जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, पहुंचे हुए पु जिसमें सोऽहं की भावना रख कर रमण करते ं भक्त जिसका श्रवण करते हैं, त्रिभुवन में सबसे पहि जिसकी वन्दना होती है और जो भीष्मपर्व ं कथा के रूप में कही गयी है, इसे भगवद्गीत कहते हैं।

अपना स्थान छोड़े बिना उदित होते हु चन्द्रमा का आलिंगन और प्रेम का अनुभव करन जैसे केवल कुमुदनी ही जानती है वैसे ही जिसक अन्तःकरण गम्भीरता से स्थिर हो रहा है वही इस कथा का सम्मान करना जानता है।

—सन्त श्रीज्ञानेश्वर

गीता का प्रकाश

युग बीत गये, सदियां पलट गयीं; कितने ही विप्लव और उथल-पुथल हुए, परन्तु गीता की स्फूर्ति चैतन्यता और तेजोमय स्पन्दनशीलता ज्योंकी त्यों है। नदीके प्रवाह में जैसे नित्य नया जल आता है, इसी प्रकार गीतासे नित्य नये अर्थ प्रकट होते हैं।

गीता किसी पण्डितका बौद्धिक प्रवचन नहीं है, वाणीका विलास नहीं है, किसी के आवेश का फल नहीं है, कोई योजना नहीं है, किसी सम्प्रदाय का धर्म-ग्रन्थ नही है, किसी ऋषि की वाणी नहीं है, वह तो एक सार्वजनिक सार्वभौम सर्वकालीन सत्य की शिव और सुन्दर अभिव्यक्ति है।

गीता योगेश्वर श्रीकृष्ण की योग-बुद्धि का चमत्कार है। गीता में जीर्ण-शीर्ण और निर्जीव प्राणों में शक्ति-संचार करनेका बल है। गीता प्रत्येक युग की माँग

का यथेष्ट उत्तर देती है। गीता को तन-मन और प्राणों में भरनेवाला वह रस पाता है जिसके सन्मुख सब रस नीरस हो जाते हैं।

गीता का प्रत्येक शब्द दहकता हुआ अंगारा है; वह जहां पड़ता है, पाप ताप भय और द्वन्दों के ढेर को भस्म कर देता है।

गीता के कर्म में ज्ञान की प्रतिभा और भक्ति की मधुरता है। गीता के प्रकाश से प्रत्येक कर्म-क्षेत्र प्रकाशित हो जाता है। जीवन का प्रत्येक पहलू स्वस्थ और सात्त्विक बन जाता है। गीता निस्तेज, शिथिल और बोझल कर्म को प्रेम और सेवा में बदलकर हल्का कर देती है, उसे प्रसाद सामर्थ्य और महाभाव से भर देती है—जीवन की ज्योति से उसे जगमग कर देती है। गीता के हृदयको पढ़कर जीवन उछल पड़ता है, मनुष्य बदल जाता है, मन बदल जाता है दुनिया बदल जाती है।

आज मनुष्य भीषण संघर्षों में से गुजर रहा है। भारी उलट- फेर हो रही है। राग, द्वेष, ममता और मोह ने समता की भूमि पर गड्ढे बना दिये हैं,

परमेश्वर से मनुष्य बिछुड़ गया है, धर्म को पकड़े रहने का बल उसमें रह नहीं गया है, वह गिर गया है। मानो राष्ट्रसेवी, ज्ञानतपस्वी लक्ष्मण को मेघनाद की शक्ति लग गयी हो। भारत के देवता उसे बचाने के लिये व्याकुल हैं। बूढ़े और अनुभवी वैद्य ने बताया है कि केवल संजीवनी से प्राण-रक्षा सम्भव है। संजीवनी बूटी भारत के गौरव-गिरि पर आज भी सुरक्षित है। उस तक पहुँचना, उसे लाना और जड़वाद से मूर्च्छित मनुष्य को उसका सेवन कराना है। वह जाग उठेगा।

आवश्यकता है हनुमान जैसे एकनिष्ठ सेवक की जो तत्परता से संयम, सत्य, सेवा और प्रेम के बल से बलवान् बना, संघर्षों को लांघता हुआ संजीवनी तक पहुँचे।

गीतारूपी संजीवनी-सुधा मनुष्य को देने का यही समय है! गीता के पाठ और श्रवण से नहीं, धर्म और ईश्वर का नाम लेने से नहीं, धर्म और ईश्वरमय बनकर गीता का आचरण करने से आज के मनुष्य में प्राण पड़ेंगे। मन भर ज्ञान की नहीं

करण भर आचरण की आवश्यकता है।

गीता का शास्त्र कर्म की कला के योग से जीवन देनेवाला बनता है। केवल पुस्तकों के पन्ने उलट जाने से काम नहीं चलेगा। हमें गीता से उस जीते जागते सन्देश को लेना है जिससे मनुष्य की मूर्च्छा टूट जाये, जिसके सेवन से मनुष्य पूर्ण स्वस्थ और चरित्रवान् बन सके, जिससे जीवन बोल उठे, जगमगा उठे, अन्धेरे में प्रकाश हो जाय।

गीता-अध्ययन का इतना ही काम है। एक बार इसका आदि और अन्त मिला कि सुख और सम्पन्नता के मार्ग प्रत्यक्ष हुए।

'गीता-अध्ययन' में गीता का संक्षिप्त सार है। किसी शास्त्रीय पाण्डित्य की दृष्टि से नहीं, व्यावहारिक सफलता की दृष्टिसे। भगवत्कृपा पाने और जीवन को बनाने के लिये गीता का अध्ययन हो तो निश्चय ही मनुष्य उस परमसत्य को पा लेता है जिसके मिलते ही सारी उलझनें स्वयं सुलझ जाती हैं, कर्म, भक्ति और ज्ञान के रहस्य खुल जाते हैं, तीनों एक में मिलकर मनुष्य को त्रय-तापोंसे बचा लेते हैं।

गीता को कर्म में भरते ही गीता के जीवन का दर्शन होता है।

आदि और अन्त

५००० वर्ष पहिले की बात है। मार्गशीर्ष शुक्ला मोक्षदा एकादशी का दिन था। कर्म के क्षेत्र में एक ओर देवता दूसरी ओर दानव, अथवा एक ओर सद्गुण और दूसरी ओर दुर्गुण थे। देहरूपी रथ दोनों के बीच में खड़ा था और उस पर आत्मारूप अर्जुन तथा परमात्मारूप श्रीकृष्ण बैठे थे। जब तक दोनों अलग-अलग रहे अर्जुन का विषाद बढ़ता गया, जब दोनों मिलकर नर-नारायण भाव से, गुरु-शिष्य भाव से, पुरुष पुरुषोत्तम भाव से अथवा अंश और पूर्ण भाव से एक हो गये, तब दोनों के सम्वाद से गीताज्ञान का अक्षय कोष मिला।

अर्जुन मानवमात्र का प्रतिनिधि था। उसने मनुष्य के लिये उपयोगी सारे प्रश्न श्रीकृष्ण से किये। जीवन की सभी समस्यायें श्रीकृष्ण के सामने रखीं, योगेश्वर श्रीकृष्ण विश्वरूप, पुरुषोत्तम, ज्ञान के सागर और कर्म के स्वरूप थे। वे जगद्गुरु थे। अर्जुन के प्रश्नों के निश्चित और स्पष्ट उत्तर

उन्होंने दिये; इसलिये कि उनका प्रिय मनुष्य कभी कहीं किसी उलझन में न रहे, परिस्थितियों से न दबे, कर्म का गाण्डीव न छोड़े और स्वस्थ सम्पन्न एवं चरित्रवान् जीवन जीये।

वेदों उपनिषदों और धर्म-ग्रन्थों का ज्ञान अनन्त है। उसका अन्त भी अनन्त ने ही पाया है; उसीका सार श्रीकृष्ण का उपहार है; मानवजाति के लिये गीतारूप में वरदान है।

गीता का बीज विषादसे छुड़ाने के लिये बोया गया है। गीता का वृक्ष अश्वत्थ के समान विशाल घना और छायादार है, गीता की शक्ति सब कर्मों और धर्मों के फलत्याग से प्रकट होती है। गीता का प्रसाद आत्म-समर्पण से मिलता है।

शरणागति से गीता प्रारम्भ हुई है और विश्व-पुरुष को तथा उसके आशीर्वाद को पाकर पूर्ण हुई है।

गीता सुन और पढ़कर मोह नष्ट होना चाहिये, स्मृतिलाभ गीता का प्रसाद है, सन्देहरहित होना गीता का चरणामृत है, कर्तव्य के लिये तत्पर हो

जाना, गीता का नीराञ्जन है, कर्म करके भी जो न किया हुआ-सा लगता है उससे गीता की आरती उतरती है। स्वधर्म से गीता का स्तवन होता है।

गीता एक शुद्ध हृदय से कर्तव्य-प्रेरणा के लिये निकली हुई भगवद्-वाणी है। गीता के वक्ता जगद्गुरु हैं। उनका महान् व्यक्तित्व चरित्र, कर्म-कुशलता और तत्परता से बना है। सेवा और विश्व-प्रेम उनके जीवन का लक्ष्य था। वही लक्ष्य गीतारूप में प्रकट होकर अभ्युदय और श्रेय का साधन हुआ है।

गीता का सुननेवाला एक परम पराक्रमी जितेन्द्रिय शूरवीर और आत्म-विजयी योद्धा था। यदि श्रीकृष्ण अपने ज्ञान, योग और सेवा-से जगद्गुरु थे तो शिष्य आत्मनिष्ठा, श्रद्धा और पवित्रता से अभिषिक्त मानव-मात्र का प्रतिनिधि था। मानव-जाति के लिये जो कुछ जानने योग्य था वह सब अर्जुन ने जानने की इच्छा की और श्रीकृष्ण ने सुन्दर सरल तथा सुबोध शब्दों में अपने अनुभव से परम सत्य को गीता के रूप में प्रदान किया।

अर्जुन विषाद में पड़ा हुआ मनुष्य है। अपने

श्रेय के लिये वह मार्ग की खोज में है। उसे कुछ सूझता नहीं है। उसकी शक्तियां कुंठित पड़ गई हैं हृदय कुम्हला गया है। केवल अपने नैतिक औ चारित्रिक बल पर वह गाण्डीव लिये खड़ा है। क से उसे घृणा हो गई, विरक्त-भाव से अपना मा चुनने के लिये उसने श्रीकृष्ण की ओर देखा।

कर्म कैसे किये जाँय, कर्म की उलझन कैसे सुलझे, कर्म के दोष से बचने का क्या साधन है और अनासक्त कर्मयोग का कौनसा पथ है? इन प्रश्नों के उत्तर शरणागतियोग—ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण से प्राप्त होते हैं।

जीवन-यात्रा के लिये कर्म करते हुए ईश्वर को अपने सम्मुख रखने से आत्म-समर्पण के भाव का उदय होता है। वाणी से उच्चारण किये शब्द-मात्र से आत्म-समर्पण नहीं होता, उसकी पूर्णता कर्म से है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम्।

कौन्तेय जो कुछ भी करो, तप यज्ञ आहुति दान भी।
नित खान पानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी॥

गीता ९-२७

सर्व-भावों सहित भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण करने का यही मार्ग गीता दिखाती है।

श्री अरविन्द के शब्दों में, 'समर्पण का अर्थ है—अपने अन्दर की प्रत्येक वस्तु को भगवान् को सौंप देना। हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारे पास है वह सब भगवान् पर चढ़ा देना, अपनी किसी कल्पना, वासना, या आदत के लिये अड़े न रहना, बल्कि अपनी वृत्तियों को ऐसा बनाना कि उनके स्थान में भागवत-सत्य अपना ज्ञान संकल्प और कर्म स्थापित करदे।'

'सदा भागवत-शक्ति के स्पर्श में रहो, तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यही है कि तुम केवल इतना ही करो और भागवत-शक्ति को अपना कार्य करने दो। जहां कहीं जरूरी होगा वहां वह निकृष्ट शक्तियों को अधिकृत कर लेगी उन्हें वह शुद्ध करेगी और कभी वह तुम्हें उनसे खाली कर देगी

और तुम्हारे अन्दर अपने आपको भर देगी, परन्तु यदि तुम अपने मन को ही अगुवा बनने दोगे जिसमें वही तुम्हारे लिये सोचे विचारे और कर्तव्य का निश्चय करे तो भागवत-शक्ति से तुम्हारा सम्पर्क छूट जायगा।'

'जो निस्संकोच होकर अपने सब अङ्गों समेत अपने आपको भगवान् के अर्पण कर देते हैं उन्हें भगवान् भी अपने को दे देते हैं। उन्हीं के लिये शान्ति है, प्रकाश है, शक्ति है, मङ्गल है, मुक्ति है, विशालता है, ज्ञान है, आनन्द-सुधा-सिन्धु-समूह है।'

यही है कर्म द्वारा भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण जो गीता हमें सिखाती है।

आत्म-समर्पण, धर्म की दीक्षा का प्रथम स्तर है। आत्म-समर्पण की प्रथम किरण ही मानव-मन को प्रकाश से भर देती है। आत्म- समर्पण करनेवाला अपने शरीर को ईश्वरीय शक्तियों का क्षेत्र बनाता है। सम्पूर्ण शक्तियों का विकास आत्म-समर्पण से होता है।

आत्म-समर्पण कर देने पर ही अर्जुन ईश्वरीय वाणी सुनने का अधिकारी बना। उसके हृदय से शरणागति का स्रोत उमड़ा—

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

उसका प्रत्येक कर्म इसी वाक्य की पूर्तिके लिये हुआ। उसके शरीर के रोम-रोम से एक ही ध्वनि उठती थी—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

आया शरण मैं आपकी हूँ शिष्य शिक्षा दीजिये।
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये॥

इस कर्म-जिज्ञासा और शिष्यत्व के भाव ने भगवान् को चुम्बक की भांति अपनी ओर खींचा।

भगवान् अपनी शक्तियों सहित प्रत्येक प्राणी के बहुत पास रहते हैं—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी।
वह चर अचर अति सूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी॥

मनुष्य के भीतर-बाहर आस-पास सर्वत्र परमात्म
है। अन्तर और बाह्य को मिलाते ही वह प्रकट हो
जाता है। अर्जुन के हृदय से आत्म-समर्पण की
बात निकली, बाहरी इन्द्रियां उसी बात को पूरा करने
में जुट गई; इसलिये श्रीकृष्ण ने उसे अभय-दान
दिया। आत्म-समर्पण का फल अभय है।

श्रीकृष्ण ने विषाद से भरे मनुष्य को हृदय से
लगाकर सान्त्वना दी और उसे बताया कि सम्पूर्ण
ज्ञान और अनन्य भक्ति कर्म-जगत् में प्राप्त होती है।

अनासक्त कर्म गीता का उद्घोष है। संसार
के अनेकों धर्म नीति और व्यवस्था-ग्रन्थ कर्म, भक्ति
और ज्ञान के मार्ग दिखाते हैं। किसी ने कर्म की
महिमा गाई है, कोई ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं
मानता, कोई भक्ति को ही सत्य कहकर और सबको
स्वप्नवत् बताता है। मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धि के
अनुसार इधर-उधर जाते हैं, अपनी ही मान्यता
और अपने ही माने हुए ग्रन्थ को सर्वश्रेष्ठ मानकर
दूसरों की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते, अपने
मन की मान्यता और आग्रह को सब पर लादना

चाहते हैं और अपने ही बुद्धिवाद में ऐसे फँसते हैं कि वास्तव में वे अपना रास्ता भी भूल जाते हैं; रह जाता है केवल बुद्धिवाद। इसी बुद्धिवाद ने मनुष्य-जाति के प्रतिनिधि अर्जुन को संकट में डाला। श्रीकृष्ण ने अर्जुन का हाथ अपने हाथ में लिया और सहज स्वभाव से मुस्कराते हुए उसे संकट से निकाल कर ऐसे ऊँचे स्थान पर खड़ा किया, जहाँ से देखने पर कर्म भक्ति ज्ञान वैराग्य संन्यास आदि सम्पूर्ण साधन समान दीख पड़े और अधिक पास से देखने पर जान पड़ा कि जहाँ सब मिलकर एक हो जाते हैं वहाँ आनन्द का अथाह समुद्र पवित्र क्षीर-सागर के रूप में लहराता है और उसमें ममता-रहित समता के शेष पर विशेष शक्ति-सम्पन्न चार हाथोंवाले सर्वेश्वर परमेश्वर विहार करते हैं। उस एक ही पुरुषोत्तम के हाथों में सृजन पालन और प्रलय के लिये कर्म रूप चक्र, पद्म रूप ज्ञान, शक्ति रूप गदा और मानव-जाति में जीवन जगाकर सावधान करनेवाला शंख रहता है। श्री उस विश्व-पुरुष के चरण चापती है।

गीता की विशेषता कर्म भक्ति और ज्ञान का पृथक्-पृथक् निरूपण करने में नहीं है, किसी को बड़ा और किसी को छोटा दिखाने का छोटापन भी उसमें नहीं है। गीता बुद्धि-योग देती है। ऐसा बुद्धि-योग जो कर्म को ज्ञान और भक्ति के साथ मिलाकर किसी को किसी से अलग नहीं रहने देता।

गीता मानव-मात्र का महान् गुरु है। गुरु शिष्य में जीवन की ज्योति जगाता है, महामन्त्र का उपदेश देता है—ऐसा महामन्त्र जिससे मनुष्य मनुष्य बने। सम्पूर्ण ज्ञान का रहस्य एक ही है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्

म० भा० शा० प० १८०-१२

देखो सर्वोत्तम ज्ञान-रहस्य यही है।
जग में मानव से कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है॥

मनुष्य केन्द्र है और सम्पूर्ण ज्ञान परिधि की भांति उसके चारों ओर घूमता है। मनुष्य-शरीर-रूपी मन्दिर में ही ज्ञान के देवता का निवास है। मनुष्य सर्व शक्तियों का साकार समूह है। भगवान्

की पूजा मनुष्य रूप में ही प्रिय है।

मनुष्य बनने के लिये गीता ने ज्ञान और भक्ति से भरे कर्म का महामन्त्र दिया है। कर्म गुरु-मन्त्र है, सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान है, ईश्वर की पूजा का साधन है और सम्पूर्ण सिद्धियों का सोपान है। गीता-गुरु से कर्म का मन्त्र लेकर जो निरन्तर जप करते हैं, वे दुःख-सागर से पार उतरते हैं।

कर्म भूमिरियं ब्रह्मन् म० भा० वन २६०-३४

'यह लोक कर्म-भूमि है।' कर्म से जो प्रकाश मिलता है उसीमें देवत्व का दर्शन होता है। कर्म में कुशल और अनासक्त नर-नारी दैवी चेतना से युक्त होते हैं। उन्हीं में ईश्वरीय भाव का विकास होता है। कर्म-हीन की पूजा भगवान भी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि पूजा का साधन कर्म है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

गी० १८-४६

जिससे प्रवृत्ति समस्त जीवों की तथा जग व्याप्त है।
निज कर्म से नर पूज उसको सिद्धि करता प्राप्त है॥

गीता की प्रथम देन कर्म करने के लिये बुद्धि-योग और दूसरी बड़ी देन बुद्धि दाता विश्व-पुरुष है। संसार की प्रत्येक वस्तु में परमेश्वर है, उसको पाने के लिये—

१—परमेश्वर के लिये कर्म करना चाहिये।

२—परमेश्वर में रहना चाहिये।

३—प्राणिमात्र के रूप में परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये।

४—सब प्रकार अनासक्त अर्थात् संगदोष से मुक्त रहना चाहिये कि परमेश्वर तक पहुंचने के मार्ग में कोई आसक्ति बाधक न हो जाय।

५—अपना कार्य पूरा करने के लिये भी किसी से वैर नहीं बाँधना चाहिये।

मत्कर्मकृन्मतपरमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

मेरे लिये जो कर्मतत्पर नित्य मत्पर भक्त है।
पाता मुझे वह जो सभी से वैरहीन विरक्त है॥

गीता में जो कुछ है वह एकदेशीय, साम्प्रदायिक और संकुचित सत्य नहीं है। उसमें अमृत-धर्म है,

जो चाहे सो पीकर अमरत्व प्राप्त कर सकता है।

जैसे अमृत पीये बिना उसकी मधुरता और शक्ति प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार गीता को आचरण में लाये बिना उसकी शक्ति और सामर्थ्य प्रकट नहीं होती। अर्जुन गीता सुनकर उसके अनुसार कर्म में लग गये, एक ही बार गीता सुनने से जीवनमुक्त हो गये। अनेकों बार भी गीता पढ़ और सुनकर जो संकट से नहीं छूटते वे वास्तव में एक बार भी इसे आचरण में नहीं लाते।

गीता का बुद्धियोग सृष्टि के प्रवर्तक आदिगुरु सर्वेश्वर परमेश्वर की कृपा का फल है। परमेश्वर की कृपा शरणागत होने से प्राप्त होती है। शरणागति के लिये शब्दों और भावों से अधिक कार्य, कर्म का आचरण करता है।

यज्ञ के कर्मों को छोड़ कर सब कर्म भगवान् से दूर हटाने वाले हैं।

यज्ञ का भाव है देवपूजन संगतिकरण दान—परस्पर सद्भाव सेवा प्रेम और एक दूसरे की पूर्ति करते हुए सब के काम आना।

यज्ञ कर्म भी अनासक्त होकर करने उचित हैं।

अनासक्ति का भाव है—राग-द्वेष स्वार्थ और वासना रहित होकर सत्त्व में स्थित रहते हुए उत्साह और प्रसन्नता से कर्म करना।

अनासक्त कर्म का बोध—कर्म अकर्म और विकर्म की गूढ़गति तथा यज्ञ कर्मों का रहस्य गुरुगम्य है। गुरु की खोज जिज्ञासा से होती है। जिज्ञासा सम्पूर्ण ज्ञान की जननी है, जिज्ञासा के बिना श्रद्धा नहीं होती और श्रद्धा के बिना ज्ञान नहीं मिलता।

श्रद्धा किसी प्रकार का अन्ध-विश्वास नहीं है, अज्ञान और मोह से उत्पन्न श्रद्धा मिथ्याचार की ओर ले जाती है।

जिज्ञासा + विनम्रता + तत्परता + संयम = श्रद्धा।

किसी बात को जानने की उत्कृष्ट अभिलाषा, जानने के लिये विनम्र भाव, जानकर उसमें तत्परता और तत्परता के साथ संयम से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वही जीवन बनानेवाली है।

गीता के ज्ञान का अधिकार श्रद्धा से मिलता है—

श्रद्धा वांल्लभते ज्ञानम् (४।३९)

यज्ञ, तप और दान का जीवन श्रद्धा से है।

श्रद्धा से गीता-पाठ अथवा श्रवण मनुष्य को अर्जुन की भांति विषाद से छुड़ाकर पुरुषोत्तम से मिलाता है।

—+++—

१. विषाद का जन्म

जीवन संघर्षमय है, पग-पग पर युद्ध उपस्थित होता है, कर्मयुद्ध, धर्मयुद्ध, विचार-युद्ध, मानसिक युद्ध, शारीरिक युद्ध, आध्यात्मिक और भौतिक युद्ध, सर्वत्र युद्ध ही युद्ध है—जगत् युद्धमय है।

इस युद्ध-जगत् में चारों ओर विषाद ही विषाद है। पराजित नर-नारी दीन, दुखी, दरिद्री तथा असमर्थ रहते हैं, विजयी सुखों की चाह भोगों विलासों और ऐश्वर्यों के लिये नित्य नये संघर्षों में पड़कर एक क्षण भी शान्ति से नहीं बैठ पाते।

कुरुक्षेत्र की भूमि पर दो सेनाओं के बीच में अर्जुन की यही उलझन थी। हारना वह चाहता नहीं था, जीत में उसे द्वेष हिंसा और पाप का भय था। अज्ञान-अवस्था में मानव की ऐसी ही दुर्दशा होती है।

अर्जुन की भांति प्रत्येक प्राणी कर्मक्षेत्र (कुरुक्षेत्र) के मैदान में खड़ा है। कर्म का क्षेत्र अपने ही सम्बन्धियों मित्रों और शत्रुओं से भरा कोलाहल पूर्ण और भयंकर है। मनुष्य की सफलता इसमें है कि वह कोलाहल में शान्त गम्भीर और निर्भय रहे; भयंकरता में मधुरता उत्पन्न कर दे।

शत्रु-मित्र सब अपने ही हैं, एक ही पिता की सन्तान हैं। स्वार्थ और इन्द्रिय-सुखों में लिप्त हो जानेवाले अन्धे मन के अनुगामी सब शत्रु बन जाते हैं, धृतराष्ट्र बन कर दूसरों के राष्ट्र और अधिकारों को पाप से छीनते तथा कुचलते हैं। आत्मा के अनुगामी कर्म-तत्पर धर्म-परायण व्यक्ति सत्य के साथ रहते हैं। परम पुरुष की दिव्य- शक्ति उनका जीवन-रथ चलाती है। संसार में स्वार्थियों और पापियों की संख्या अधिक होती है, उनका संगठन भी दृढ़ होता है, बड़े-बड़े समर्थ और बुद्धिमान् भी अर्थ के दास होकर इनके साथ हो जाते हैं, परन्तु इनका पक्ष संख्या में अधिक और बलवान् होते हुए भी भयभीत तथा चिन्तित रहता है। यही गीता

की प्रथम घोषणा है।

दुर्योधन जैसे स्वार्थीपुरुष महातेजस्वी गुरुजनों पर भी विश्वास नहीं करते। इसीलिये इच्छा मृत्यु पराक्रमी भीष्म पितामह की रक्षा में भी दुर्योधन को अपना पक्ष निर्बल और अपर्याप्त जान पड़ता था।

संगदोष बलवान् और बुद्धिमान् का भी विनाश कर देता है। भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य का पतन दुर्योधन के कुसंग से हुआ।

भीष्म ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। उनके संकल्प का मेरुदण्ड झुकना नहीं जानता था, उनका पराक्रम अजेय था; परन्तु वे अधर्म को विजय न दिला सके। इसका एकमात्र कारण था दो घोड़ों की सवारी। भीष्म कौरवों की ओर से लड़ते थे, परन्तु पाण्डवों से प्रेम करते थे—अधर्म के साथ थे, परन्तु धर्मरूप श्रीकृष्ण के भक्त थे। दोनों में मन रख कर वे अधर्म के साथी थे। फल यह हुआ कि उनकी राजनीति धर्मभाव वीरता और पराक्रम पर पानी पड़ गया।

गीता की यह भूमिका साधक को तय्यार करने

के लिये है। जो अधर्म को न छोड़कर धर्म की बातें करते हैं, कुसंग में रहकर भगवान् को प्रसन्न करना चाहते हैं, उन्हें जीवन में सफलता नहीं मिलती। भक्ति, ज्ञान और वीरता वहां निश्चेष्ट हो जाते हैं जहां मनुष्य अधर्म की विजय चाहता है।

राजनीति में भी निश्चय की दृढ़ता से एक ओर होकर कर्म करना आवश्यक है। बहुमुखी डावांडोल नीति से शासन-सत्ता के हाथ ढीले पड़ जाते हैं।

जीवन में ऐसी भी परिस्थितियां आती हैं जब चरित्रवान् और कर्तव्यशील अनुभवी व्यक्ति भी मोह में पड़ जाते हैं। मोह कर्तव्य का पथ भुला देता है, सारे पापों का मूल है और ज्ञान तथा भक्ति में विद्रोह खड़ा करनेवाला है। अधर्मी और अनीश्वर-वादी नर-नारी जब मोह में फँस जाते हैं तो उन्हें बचने का कोई रास्ता नहीं सूझता, परन्तु धर्मप्रिय और आस्तिक मोह या अज्ञान में घिर कर भी परमेश्वर की ओर देखते हैं। अर्जुन ऐसे ही मनुष्य का नमूना है—वह कारणवश विषाद से घिर गया था, परन्तु उसने अपने मित्र, गुरु अथवा परमेश्वर

२. ज्ञान का स्वरूप

अहंकार-जन्य मोह ने परम-पराक्रमी अर्जुन को दुखी कर दिया। उसके नेत्रों में आँसू भर गये, कण्ठ रुंध गया, सारा शरीर शिथिल हो गया और वह कातर दृष्टि से अपने परम-मित्र श्रीकृष्ण की ओर देखने लगा।

उपनिषदों में एक कथा है—दो पक्षी एक वृक्ष की डाल पर साथ-साथ बैठे थे। एक आनन्द में निमग्न परम-प्रसन्न और स्वस्थ था, दूसरा मलिन-मन दुखी और अस्वस्थ था। आनन्दमय पक्षी ने दुखी पक्षी से कहा—'मित्र! मेरी ओर देखो! मैं कितना सुखी हूँ। तुम भी ऐसे ही बन जाओ।' आश्चर्य की बात यह कि जब दुखी पक्षी उस आनन्दरूप की ओर देखता था तो आनन्दमय बन जाता था, परन्तु दूसरी ओर देखते ही उसे चारों ओर दुःख निराशा और अशान्ति के बादल उमड़ते दिखते थे। उसका मन धीरज छोड़कर बैठने लगता था।

ब्रह्म और जीव की यही कथा है। संसार रूपी
ल पर दोनों बैठे हैं। गीता में इन दोनों के दर्शन
ऋ रथ पर होते हैं। अर्जुन ने सेनाओं की ओर
रुक्षेत्र के मैदान में आँख उठाकर देखा तो वह
याकुल हो गया। जैसे ही उसने जीव के परम-मित्र
कोमल चित्त दीनदयालु अकारण कृपालु श्रीकृष्ण की
ओर देखा तो उसे लगा कि उसमें उत्साह जाग रहा
है, कोई उसका हाथ पकड़ कर उसे सुमार्ग पर ले जा
रहा है। उसने सुना—

'अर्जुन! तुम्हें संकट के समय में अज्ञान क्यों
हुआ है? आर्य-पुरुष कभी कर्तव्य-पथ से इधर-उधर
नहीं होते, अनार्यवत् कर्म नहीं करते, नरक और
अपयश देनेवाले कर्म आर्यपुरुषों को शोभा नहीं देते।

'क्लीवता की कीचड़ में क्यों फँस रहे हो।
प्रगतिशील वीरवर! तुम्हारे वंशधरों ने कभी दुःख
में धैर्य नहीं छोड़ा। नपुंसक की भांति विलाप
करने की यह नयी प्रथा तुम्हारे योग्य नहीं है।
हृदय की दुर्बलता के खण्ड-खण्ड कर दो और आगे
बढ़ो।'

श्रीकृष्ण ने अर्जुन में आर्योचित कर्मों की याद जगायी, उसे अपने वंश का गौरव-स्मरण कराया। एक बार समुद्र के किनारे जामवन्त ने हनूमान को इसी भांति उत्साहित किया था। मित्र वही है जो मित्र को स्वरूप-ज्ञान कराता है, उसे भूलों की ओर नहीं जाने देता।

संसार का सबसे बड़ा ज्ञान स्वरूप-ज्ञान है। जो अपने को जानता है उससे पाप नहीं होता। अपने को भूलनेवाला धर्म और ईश्वर को भी भूल जाता है। अपने को न भूलने के लिये ईश्वरीय सहायता प्राप्त करनी चाहिये। परमेश्वर से मित्र बन्धु माता पिता स्वामी आदि का नाता जोड़े रखने से वह किसी न किसी रूप में मनुष्य के साथ रहता है, उसकी सहायता का हाथ उसे गिरने से बचाता है और दिव्य आशीर्वादों से सुरक्षित रखता है। भगवान् भक्त के लिये नित्य योग-क्षेम वहन करते हैं।

आत्मा परमात्मा और कर्म की गति को दीक्षा के बिना नहीं जाना जाता। दीक्षा का अधिकारी शरणागत है। सब भावों से छल छोड़कर जो एकाग्र

होता है उसमें आत्म-समर्पण का महाभाव स्वयं उभरता है। वह अपने आपको किसी के हाथों में सौंप कर प्रसन्न होता है। स्वयं अपना कुछ न रख सब कुछ विश्व-नारायण के चरणों में अर्पण कर ा है। अर्जुन ने यही किया। सामान्य शिष्यों भांति उसने चन्दन रोली पुष्पमाला और दक्षिणा गुरु को प्रसन्न करने की चेष्टा नहीं की थी। र्जुन ने अपनी इन्द्रियों को सुमनों की भांति गुरु-रणों पर चढ़ा दिया था, अपने मनोभावों की माला ुरु के गले में डाली थी, अपने सत्त्व से उनका र्चन किया था और अपने आपको ही गुरु-दक्षिणा ं दे डाला था।

भगवान् गुरुडम का दम्भ फैलानेवाले गुरु नहीं थे, यश कीर्ति धन आदि के लोभ से गुरु नहीं बने थे, कुछ लेने के लिये नहीं, अपनी सम्पूर्ण निधि का उत्तराधिकारी बनाने के लिये उन्होंने मानव-शिष्य को स्वीकार किया था।

भगवान् मनुष्यमात्र के गुरु हैं। उनका सर्वस्व शिष्य के लिये है। गीता उन्होंने गुरुमन्त्र के रूप में

दी है। गीता का आचरण उनकी गुरु-दक्षिणा है।

अर्जुन ने ज्योंही गुरु की शरण ली गुरु ने उसे आत्मा का अमर उपदेश दे डाला। अपने मन की बात सिद्ध करने में मनुष्य सारी बुद्धि लगा देता है। अपने को बड़ा ज्ञानी मान बैठता है, यही प्रज्ञावाद है। प्रज्ञावाद ने अर्जुन को घेर लिया था। प्रज्ञावादी अपनी कुतर्क बुद्धि से सत्य के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। अपने अन्दर कोई प्रकाश नहीं आने देता। श्रीकृष्ण ने कहा—'अर्जुन! तुम केवल ज्ञान की बातें बनाते हो। यह नहीं जानते कि बुद्धिमान् कभी शोक, चिन्ता और चाह में नहीं फँसता। जीवन के साथ मृत्यु इस प्रकार लगी है जैसे धूपके साथ छाया। एक न एक दिन सबको मरना है, फिर कर्महीन, धर्महीन, दुखी और दीन होकर क्यों मरें। प्रज्ञावादी अपने ज्ञान और तर्क से स्वयं धोखा खा जाता है। प्रज्ञावाद की अपेक्षा, कर्म करना श्रेष्ठ है। मनुष्य को कर्म करने के लिये बुद्धि मिली है।'

ज्ञान वह है जो मनुष्य में सत्य, शिव और सुन्दर भाव भरता है। ज्ञान जीवन की कला है।

वह अपने उपासक के रोम-रोम में स्फूर्ति पुरुषार्थ और प्रसन्नता भर देता है। ज्ञान का सम्बन्ध जीवन से है। जीवन रहित ज्ञान, अज्ञान है।

दुख आते हैं और चले जाते हैं, सुख मिलते हैं और बदल जाते हैं, लाभ हानि, जीवन-मरण द्वन्द्वों में से कोई सदा रहनेवाला नहीं है। यह देह भी सदा नहीं रहती, फिर दुःख और निराशा का क्या काम? शरीर मिट जानेवाला है, यह जानकर मनुष्य को लाभ उठाना चाहिये। भय-क्रोध, राग-द्वेष आदि विकारों से बचाकर इसकी मिट्टी सुधारनी चाहिये।

आत्मा जन्म-मृत्यु-रहित, अमृत है। आत्मवान् में विकारों के लिये स्थान नहीं है। वह सनातन पुरुष की भांति अविचल निर्भय और ज्योतिर्मय रहता है। मनुष्य आत्मा को जान ले तो वह यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मैं पवित्र और तेजस्वी हूँ, आत्मा का आनन्द मेरे रोम-रोम से छलका पड़ता है, आत्मा की शक्ति मेरे अंग-अंग को सुन्दर और दृढ़ बना रही है।

आत्मज्ञानी केवल ज्ञान की चर्चा करके नहीं रह जाता। आशा और मोह के बन्धन से छूटकर नित्य सत्त्व में स्थित होकर वह सदा जागता रहता है।

कर्म उसके जीवन का मूल-मन्त्र बन जाता है।

आत्मज्ञानी जानता है कि रूप रंग का मोह भय और चिन्ता देनेवाला है, क्योंकि वह नश्वर है जो कुछ आज है वह कल नहीं रहेगा। मनुष्य के उन्नति के लिये थोड़ा-सा समय मिला है। उसका सदुपयोग करनेवाले का जीवन अमर होता है। जो इस थोड़े से समय का सदुपयोग नहीं कर पाते वे नित्य मृत्यु के मुख में निवास करते हैं—रो-रोकर जीते हैं और मृत्यु से पहिले बार-बार मरते हैं।

संसार में सुख राई के समान है और दुःख पहाड़ के बराबर हैं। कर्मयोगी आत्मा के ज्ञान से दुःखों के पहाड़ को तोड़ देता है। नित्य प्रसन्न रहता है, सुख पाने के प्रयत्नों में सुख नहीं है, दुःखों के आगे घुटने न टेक कर, उनका अन्त कर देने में सुख है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय में फँसा हुआ मनुष्य कभी निकल नहीं सकता; इनके फल को किसी भी ज्ञान या शक्ति से समान नहीं समझा जा सकता, परन्तु गीता आत्मज्ञान और कर्म की शक्ति को मिलाकर ऐसा बल देती है कि गीता का उपासक अपनी शक्ति से द्वन्द्वों को समान कर लेता है। श्रीकृष्ण ने दुखी अर्जुन से यही कहा है।

जयहार लाभालाभ सुख दुख सम समझकर सब कहीं।
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर पाप यों होगा नहीं॥
(गीता अ० २।३८)

पाप उसे घेरता है जो फल की चिंता करता है। चिन्ता करने से मनुष्य उत्साह और प्रसन्नता पूर्वक कर्म नहीं कर पाता। अतः सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय कुछ भी मिले, मनुष्य को कर्म करते समय फल की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिये; ऐसी चिन्ता कर्म करने की शक्ति को घटाती है। कर्मयोगी के सन्मुख श्रीकृष्ण का यह सन्देश रहना चाहिये कि "संसार की युद्ध-भूमि में कर्म करते-करते मर जाने वाला वीर वसुन्धरा का सुख भोगता है, इसलिये कर्त्तव्य कर्म का निश्चय करके बढ़े चलो?"

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

जीते रहे तो राज्य लोगे मर गये तो स्वर्ग में।
इस हेतु निश्चय युद्ध का करके उठो अरिवर्ग में॥
(गीता अ० २।३७)

कर्मयोग के मार्ग में एक निश्चय होना आवश्यक

है। चंचल बुद्धिवालों के सब कर्म अधूरे रहते है जो सुख भोग के लिये बड़ी-बड़ी सिद्धि की बातें सो करते हैं, उन्हें कभी कर्म में सफलता नहीं मिलती कर्म योगी तो स्वर्ग की भी कामना नहीं करता वह किसी पुष्पित-वाणी से कर्म में ढील नहीं छोड़ता, कम परिश्रम करके अधिक की आशा नहीं करता और अपने कर्त्तव्य कर्म को छोड़ कर किसी भी लोभ, भय या कामना से दूसरी ओर नहीं जाता।

कर्म की सफलता के चार साधन हैं—

१—कर्मयोगी को कर्म करने का अधिकार है, इस अधिकार का लाभ उठाकर नित्य-नूतन प्रगति करनी चाहिये।

२—फल कर्ता के हाथ में नहीं है। मन चाहा फल पाने के लिये व्याकुल नहीं होना चाहिये और जो कुछ मिले, उसे प्रसन्नता से संतोष-पूर्वक स्वीकार करके फिर कर्म में लग जाना चाहिये।

३—केवल फल पाने के लिये ही कर्म नहीं

करना चाहिये। 'कर्म करना मनुष्य का कर्त्तव्य है' यह विचार कर स्वधर्म के लिये कर्म करना चाहिये।

४—किसी भी अवस्था में कर्त्तव्य-कर्म नहीं छोड़ना चाहिये, चाहे भक्ति, ज्ञान, आनन्द और सम्पूर्ण ऐश्वर्य तथा शक्तियां प्राप्त हो जांय।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

अधिकार केवल कर्म करने का नहीं फल में कभी।
होना न तू फल-हेतु भी, मत छोड़ देना कर्म भी॥
(गीता अ० २।४७)

इन महाभावों से प्रेरित होकर कर्म करनेवाला सिद्धि और असिद्धि को समान समझ कर योग में स्थित होकर कर्म करता है। योग में स्थित होने का अभिप्राय है—

१—चित्त को एकाग्र करके कर्म करना।

२—युक्ति से कर्म करना।

३—बाहर और भीतर से एक होकर कर्म करना।

४—जीव और आत्मा की एकता से कर्म करना।

कर्मयोग की इस स्थिति के लिये गी
स्थितप्रज्ञ होने का आदेश है। स्थितप्रज्ञ पुरु
योगी के आदर्श का नमूना है; मनुष्य की पूर्ण
दर्शन स्थितप्रज्ञ में होता है।

स्थितप्रज्ञ अपने मन में कोई कामना नहीं र
वह अपने मन बुद्धि और इन्द्रियों से आत्म
साथ सम्बन्ध जोड़ता है और उसी में संतुष्ट रहता

दुःख में वह व्याकुल नहीं होता—धैर्य
छोड़ता और सुख में भोगों की चाह नहीं कर
राग, भय और क्रोध सब पर शासन करता हु
वह प्रत्येक-स्थिति में आनन्द से रहता है।

जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता
उसी प्रकार वह अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओ
से हटा कर रहता है।

संसार के सम्पूर्ण वैभव मिलने पर भी व
समुद्र की भांति अविचल रहता है। ऐसे स्थितप्र
ही परम शान्ति पाते हैं। कामकामी पुरुषों के लि
शान्ति और सुख नहीं है।

प्रत्येक स्थिति में प्रसन्नता से कर्म करते हुए, मनुष्य को सब बन्धनों से मुक्त स्थितप्रज्ञ होकर रहना चाहिये। यही पूर्ण स्वतन्त्रता है और इसी को प्राप्त करके निर्वाण पद मिलता है।
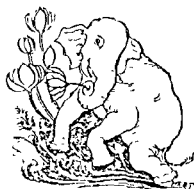
३. कर्मयोग

मोह मार्ग में भूला हुआ मनुष्य किसी बात ह
सरलता से नहीं समझता; उसे प्रत्येक बात में उल
झन दीखती है और प्रत्येक कर्म से वह जी चुरात
है, परन्तु कर्म किये बिना कोई एक पल भी नह
रह सकता। कुछ नर-नारी ऐसे होते हैं, जो इन्द्रियों
को बलात् मार कर बैठ जाते हैं परन्तु उनका मन
विषयों के साथ खेलता है, उन्हें मिथ्याचारी कहते
हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो संसार में रहकर कर्म
करते हैं, परन्तु अपनी इन्द्रियों को सच्चाई से मन
के द्वारा संयम में रखते हैं। ऐसे अनासक्त कर्म

योगी श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं। इनको कर्म कभी भार नहीं होता और वे कभी कर्म के बन्धन में नहीं बंधते।

कर्म को बहुधा बन्धन का कारण कहा जाता है, पर श्रीकृष्ण ने कर्म को ही मुक्ति का साधन माना है। गीता के अनुसार यज्ञ के कर्मों को छोड़ कर और सब कर्म मनुष्य को बंधन में जकड़नेवाले हैं, कहीं सुख है तो यज्ञ के कर्मों में। यज्ञ के कर्म वे हैं जो दैवी गुणों को धारण करके किये जाते हैं, जो सबके सहयोग से, सबके हित के लिये होते हैं, जिनसे मनुष्य का मनुष्य मात्र से प्रेम और सद्-भावना का सम्बन्ध दृढ़ होता है और जिनसे संसार की कमी पूरी होती है एवं राष्ट्र उन्नत होता है।

यज्ञ के कर्मों से मनुष्य देवता बनता है। जहां यज्ञ होते हैं, वहां कोई दुखी, असंतुष्ट, स्वार्थी, व्यभिचारी, नंगा, भूखा नहीं रहता। जो यज्ञ में भाग देकर अर्थात् सेवा और परोपकार करके खाते हैं, वे दुखों से पार हो जाते हैं और जो केवल अपने

पेट के लिये कर्म करते हैं, उन पर दुःख उसी प्र
झपटते हैं, जैसे मांस के टुकड़े पर चील-कौवे।

जनक आदि कर्मयोगी महापुरुष ऐसे ही करके जीवन्मुक्त हुए। श्रीकृष्ण ने यज्ञ कर्मों द्व
ही मानवता की पूर्णता प्राप्त करके देवपद पा
परन्तु सब कुछ प्राप्त करके भी कर्म करना न
छोड़ा।

यज्ञ कर्म करने में मन और इन्द्रियां बा
डालते हैं, कामनायें पाप की ओर खींचती हैं, र
गुण से उत्पन्न होकर काम और क्रोध ज्ञान को ढ
लेते हैं। इसलिये जो यज्ञ के कर्म करना चाहते है
उनका कर्त्तव्य है कि मन और इन्द्रियों के दास
बनें, काम और क्रोध को विष-हीन करके अप
पास रखें।

इन्द्रियों को अच्छे कर्मों में लगाना चाहिये
उनसे ही यह शरीर बलवान् है। इन्द्रियों को चलाने
वाला मन है और मन की बागडोर बुद्धि के हाथ
में है। बुद्धि से भी श्रेष्ठ आत्मा है। आत्मा के
समीप पहुंचते ही ज्ञान के नेत्र खुल जाते हैं।

४. दिव्य-कर्म का बोध

वतार कार्य—

जिन नियमों से जीवन गतिशील है, सृष्टि
ुचारु रूप से चलती है, महाप्रजाओं की उन्नति
ोती है, उन्हें धर्म कहते हैं। धर्म के पतन से राष्ट्रों
का पतन होता है, सृष्टि का क्रम बिगड़ता है, सर्वत्र
अनाचार होने लगते हैं। धर्म की उन्नति के लिये
जो अपना तन, मन, धन अर्पण कर देते हैं, उन्हें
महापुरुष कहते हैं।

युग-युग में धर्म की रक्षा के लिये महापुरुष
अवतरित होते हैं, भूले हुए मानव-समाज को
उन्नति और सुख के पथ पर लाते हैं और राष्ट्र को
जागृत करने के लिये अपने संदेश और चरित्र का

आदर्श उपस्थित करते हैं। यही गीता के अव्यय-योग की परम्परा है। श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का कार्य प्रकट करते हुए कहा—

"मैं धर्म का पतन नहीं देख सकता, जब भी धर्म घट जाता है, तब मैं किसी न किसी रूप में अवतीर्ण होता हूं। मेरे जन्म के तीन ध्येय हैं—

१—साधु जनों का परित्राण (सेवा+रक्षा)

२—दुष्कृतों का विनाश।

३—धर्म की स्थापना।

अपने अवतार-कार्य को मैं जिस प्रकार बन पड़ता है, पूरा करता हूँ। यही मेरे जन्म का रहस्य है और इसी के लिये मेरे सम्पूर्ण-कर्म अर्पण हैं। इस रहस्य को जानने वाले परम पुरुषार्थी मेरे समान ही कर्म का व्रत लेते हैं और मुझ में मिल जाते हैं।

जो नर-नारी भय क्रोध और राग को छोड़कर मेरे कर्म में सहयोग देते हैं, वही मेरे प्रेम-पात्र हैं; तप और ज्ञान से पवित्र होकर वे मेरे भाव को समझते हुए मुझ में ही लीन हो जाते हैं।

सनातन महर्पियों ने कर्म के इस रहस्य को
झ कर कर्म किये थे। उन्नति शील नर-नारियों
भी इसी प्रकार कर्म करना योग्य है।"

ां का तत्त्व –

कर्म के तत्त्व को समझने में बड़े-बड़े विद्वान्
ूल कर जाते हैं। मनुष्यों में बुद्धिमान् वह है जो
र्म करता हुआ यह समझे कि मैं कुछ नहीं कर
हा। कर्म ऐसे पुरुष को भारी नहीं लगता, वह
ासमें लिप्त भी नहीं होता। कर्म में अपनी आत्मा
को उढेल कर वह राष्ट्र और राष्ट्र-पिता परमेश्वर की
सेवा में सहज स्वभाव से लगा रहता है, उसे अपने
लिये कुछ करना नहीं रहता, फिर भी वह निःस्वार्थ,
भाव से लोक संग्रह के लिये कर्म करता है।

भगवान् राम ने कर्म के लिये जीवन अर्पण
किया; कोटि-कोटि असुरों से युद्ध करके भी वे नहीं
थकते थे। श्रीकृष्ण के जीवन का एक क्षण भी
आलस्य में नहीं बीता। इन महापुरुषों ने जीवन-पर्यन्त
अथक-परिश्रम किया और इतना करके भी नित्य

प्रसन्न रहे। महापुरुषों के पथ पर कांटे बिछे रहते हैं, परन्तु उनके चरण-स्पर्श से वे फूल बन जाते हैं। कटुता और पीड़ा का भय महापुरुषों को कर्म करने से नहीं रोक पाता। इसीलिये सब कुछ करके भी उन्हें ऐसा लगता है, जैसे कुछ न किया हो। उन्हें नाम-मात्र को भी अहंकार नहीं होता और न कर्म-भार लगता।

सीता से राम ने पूछा कि वन में कठिन परिश्रम करके उन्हें दुःख और थकान क्यों नहीं होती। सीता ने कहा मेरे अन्तर में प्रियतम का प्रेम और उनके सहवास का आनन्द भरा है, कर्म में भी वही प्रकट होता है।

हृदय के भाव के अनुसार कर्म सुख-दायक या दुःख दायक बनता है। हृदय में प्रेम, सेवा, सद्भावना और आनन्द भर लेने पर कर्म स्वयं ही गौरवशाली और तेजोमय बन पड़ेगा, उसमें न बन्धन होगा, न ताप, न करने का अहंकार और उसका कर्ता सब प्रकार अनासक्त मुक्त और स्वतन्त्र होगा।

ब्रह्मकर्म—

जिसमें कर्म करने की ऐसी चेतना है, जो निर्विकार सच्चिदानन्दमय है और केवल यज्ञभाव से कर्म करता है, वह जीवन्मुक्त है। ऐसे पुरुष की स्थिति ब्रह्म के समान है। वह स्वयं ही ब्रह्माग्नि है, स्वयं ही आहुतिरूप है और स्वयं ही ब्रह्मरूप यज्ञ-कर्ता है। गोपियों ने इस स्थिति का साक्षात्कार किया—

प्राण भये कान्हमय कि कान्ह भये प्राणमय,
हिय में न जानि परै प्राण है कि कान्ह है।

कर्ता कर्म रूप हो जाये और कर्म कर्ता रूप हो जाये, यह न जान पड़े कि कर्म स्वयं किस भांति सम्पन्न होता जा रहा है; यही कर्म की पूर्णता है। ऐसा कर्मयोगी कभी अधीर नहीं होता।

दुःख वहां है, जहां कर्ता ब्रह्मरूप न होकर अहंकार का पुंज बनता है। पाण्डवों ने स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी, अपूर्व विजय प्राप्त की। युधिष्ठिर यदि कहता कि यह विजय मैंने धर्म-बल से प्राप्त की है। अतः मैं राज्य भोगूंगा, भीम कहता कि मेरी गदा

ने दुर्योधन का कचूमर निकाला है, मैं राजा बनूँगा। और अर्जुन कहता कि मैंने गांडीव के तीरों से भीष्म और कर्ण जैसे वीरों का कलेजा फाड़ दिया है, राज्य मैं करूँगा, तो महा अनर्थ हो जाता।

आज एक-दो-बार जेल हो आने वाले या स्वतंत्रता के संग्राम में युद्ध करने वाले कहें कि लड़ाई के दुःख हमने झेले हैं; स्वराज्य का सुख भी हम ही भोगेंगे तो यह स्वतन्त्रता अभिशाप सिद्ध होगी। और यदि सभी एकरूप एकमन ब्रह्ममय होकर अपनी-अपनी आहुति डालकर भी समझेंगे कि हमने कुछ नहीं किया तो निःसन्देह स्वराज्य सबका होगा; सब सुखी होंगे, एक-बार फिर भारत के ३३ कोटि निवासी ३३ कोटि ब्रह्मरूप देवता बनेंगे।

ऐसे महान् कर्मयोगी होने के लिये ऋषि मुनियों ने आदि काल से ही साधनों की खोज की है। इस कर्म यज्ञ के करने वाले कुछ भजन-पूजन द्वारा शुद्ध मन होकर कर्म करने की कुशलता प्राप्त करते हैं, कुछ इन्द्रियों का संयम करते हैं, कुछ योग, तप,

ज्ञान, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि साधनों द्वारा शुद्ध होकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं और कुछ आहार को नियमित करके अपने आत्मारूप अग्निकुण्ड में मन और इन्द्रियों सहित प्राणों की आहुति डालकर पापों से मुक्त होते हैं।

जो इस प्रकार यज्ञ कर्म करके खाते हैं वे अमृत भोगते हैं; जो इस संसार को सुखी बनाते हैं वे निःसंदेह सुख पाते हैं। संसार को सुखमय बनाने के लिये निर्विकार कर्म करने की प्रथम आवश्यकता है। यदि ऐसे कर्म करने में किसी की बुद्धि नहीं चलती तो उसे कर्म का रहस्य जानने वाले तत्त्वदर्शी महापुरुष से कर्म की दीक्षा लेनी चाहिये।

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

> सेवा विनय प्रणिपात पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से।
> उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्व-दर्शी ज्ञान से॥
> (गी० अ० ४।३४)

ज्ञान-पूर्वक कर्म किये बिना जीवन-मुक्ति नहीं मिलती और सारा जीवन हाय-हाय करते करते

संसार की आग में जल जाता है।

कर्म का बोध होने के तीन साधन हैं—

१—श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है।

२—कर्म में उत्साह-पूर्वक निरन्तर लगे रहने से कुशलता स्वयं आ जाती है।

३—इन्द्रियों का संयम करने से ज्ञान प्राप्त होता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

श्रद्धा सहित जो जीत इन्द्रिय ज्ञान में तत्पर रहे।
वह शीघ्र पाकर ज्ञान यह, सुख शांति सागर में बहे॥
(गी० अ० ४।३९)

इस प्रकार उत्साह, लगन, सतत प्रयत्न, कष्ट सहन की शक्ति और हृदय का सहयोग प्राप्त होने पर कोई भी नर-नारी किसी भी प्रकार का कर्म करने में कुशलता प्राप्त कर लेता है।

यही दिव्य कर्म का बोध है। कर्म के विकार और भार से मुक्त होकर जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार

कर्म करते हैं वे ही भगवान के कार्य में सहायक होकर अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं। संसार ऐसे पुरुषों से सुखी बनता है।

५. मुक्ति के कर्म

स्वतन्त्रता, विजय, यश और समृद्धि की इच्छा प्राणीमात्र में है। इस इच्छा की पूर्ति के लिये मनुष्य तीन प्रकार के कर्म करते हैं—

१ कर्म—परम पुरुषार्थ

२ अकर्म—कर्म का संन्यास

३ विकर्म—द्वेष, द्वन्द्व, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि विकारों सहित कर्म।

विकर्म से मनुष्य का पतन होता है और संसार में पीड़ा तथा अशान्ति फैलती है। प्रजाओं में विकर्मों को रोकने के लिये राजा न्याय और दंड के नियम बनाता है। धर्म, दूषित कर्मों को रोकने के लिये स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य की व्यवस्था देता है।

कर्म करने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है, परन्तु कर्म करते-करते राग, द्वेष, द्वन्द्व आदि घेर लेते हैं और शान्ति तथा प्रसन्नता से नहीं रहने देते। अर्जुन की यही उलझन थी, मानवमात्र की यही समस्या है। कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता और कर्म करने में विकार आना स्वाभाविक है। आग के साथ जैसे धुंवा रहता है, इसी प्रकार कर्म के साथ दोष। इस समस्या को सुलझाने के लिये गीता ने कर्म और संन्यास का अद्भुत समन्वय किया है।

ज्ञान की अग्नि कर्म के विकारों और भूलों को भस्म कर देती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

ज्यों पार्थ पावक प्रज्वलित ईंधन जलाती है सदा।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा॥
(गी० अ० ४।३७)

ज्ञान के सहारे कर्म करनेवाला ही सन्यासी है और उसी को श्रीकृष्ण श्रेष्ठ कर्मयोगी कहते हैं।

कर्मयोगी पुरुष को संसार में रहकर बहुत कु
करना होता है; परन्तु सब कुछ करके भी ऐ
प्रसन्न, निर्लेप और हलका रहता है, जैसे कुछ
किया हो—यही कर्म में अकर्म का योग है।

संन्यासी को कुछ करना शेष नहीं रहता, परन
फिर भी वह कुछ न करते हुए सब कुछ करता है
अपने तप, त्याग और उज्ज्वल चरित्र से वह जन
समाज को निरन्तर कर्म-प्रेरणा और ज्ञान का दान
देता है—यही अकर्म में कर्म का योग है।

कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म होते हैं
भगवत कृपा से। कर्म और ज्ञान की गंगा यमुना के
बीच में भक्ति की सरस्वती का संगम होते ही मुक्ति
का मार्ग खुल जाता है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

अध्यात्म-मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढ़ो।
फल-आश ममता छोड़कर निश्चिन्त होकर फिर लड़ो॥

इस प्रकार जिसके सिर पर कर्मों का बोझ है
वह कर्म, भक्ति और ज्ञान के सहारे निरन्तर कर्म

करता हुआ प्रसन्न और द्वेष-द्वन्द्वों से रहित निर्विकार रहे और जो सब प्रकार पूर्णकाम निष्प्रयोजन और सबसे अलग है, वह सबके श्रेय सुख और सेवा के लिये अपने आपको अर्पण करदे तब गीता का योग पूरा होता है।

कर्मयोग और संन्यास दोनों मार्ग श्रेष्ठ तथा अभिन्न हैं। पहला मनुष्य का देह है तो दूसरा पीठ। एक आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, तो दूसरा पीछे से सहारा।

कर्मयोगी हो या संन्यासी, सुखी और मुक्त वही है, जिसकी आकांक्षायें शान्त हो गई हों और जिसमें लेष मात्र भी द्वेष भाव न रहा हो।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

है नित्य संन्यासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही।
तज द्वन्द्व सुख से सर्व बन्धन-मुक्त होता है वही॥
(गी० अ० ५।३)

परमेश्वर ने मानव को सब प्रकार स्वतन्त्र और जीवन-मुक्त बनाया है। उसे न किसी के अच्छे से

प्रयोजन है न बुरे से। जो संसार को सुख बांटता है वह सुख पाता है और जो दुःख देता है, वह दुःख पाता है। छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच का भेद भाव, घृणा और द्वेष को पाल कर मनुष्य स्वयं अपनी स्वतन्त्रता खो देता है, मुक्त प्रदेश में भी वह दास की भांति दीन और दुखी रहता है।

शुद्ध मन और सधे हुए संयमित जीवन से जो कर्म करता है और सबका सुख-दुःख अपने जैसा मानता है, सबमें समान भाव रखता है, उस कर्म योगी को मुक्ति का आनन्द मिलता है।

गीता का साम्यवाद—

गीता में कर्मयोग या संन्यास-योग की साधना के लिये जो आत्म-ज्ञान कहा है वही सच्चा साम्यवाद है। उसके सामने २० वीं सदी का साम्यवाद निष्प्राण और अपूर्ण है। सम-दृष्टि, साम्ययोग, या साम्यवाद के बिना किसी भी समाज और राष्ट्र को स्वतन्त्रता का सुख नहीं मिलता। जीवन मुक्ति का आनन्द सम-दर्शन में ही है।

साम्य योग में न कहीं परस्पर छल कपट है, न दलबन्दी, न काली करतूतें। सब सबके लिये कर्म करते हैं, परस्पर आदान-प्रदान (यज्ञ) करते हुए प्रेम से राष्ट्रोन्नति करते हैं, अपना किसी का कुछ नहीं है, सब अपने हैं समूचा राष्ट्र अपना है।

जिसकी सम दृष्टि है, गीता उसे ज्ञानी कहती है। विद्वान, ब्राह्मण, चांडाल, गौ, हाथी, कुत्ता कोई भी हो सब के सुख और श्रेय के लिये साम्य-वादी (ज्ञानी) समान भाव से कर्म करता है। किसी का दुःख वह देख नहीं सकता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या-विनय-युत-द्विज,श्वपच,चाहे गऊ,गज,श्वान है।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है॥
(गी० अ० ५।१८)

इस साम्य योग के बिना कभी जीवन-मुक्ति नहीं मिलती। जिन्हें मानवता से प्रेम है, जो स्वयं सुखी रह कर दूसरों को सुखी और स्वतन्त्र रखना चाहते हैं, उन्हीं के लिये गीता का यह योग है। इस सम-

दर्शन के लिये स्वार्थों की आहुति देनी होती है लोभ, मोह, वैभव और भोग साम्यवादी के शुभ संकल्पों का मेरुदण्ड नहीं झुका पाते। ओछी और संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर उसका महाभाव विश्व को प्रेम और सुख से भर देने के लिये उमड़ता है। विषय भोगों के अथाह सिन्धु में उसकी जीवन नैय्या काम और क्रोध के वेग को सहकर भी अडोल रहती है।

वह जानता है कि मुझ में बसा हुआ परमेश्वर यज्ञ और तपों का सुख भोगने वाला सबका सखा और सारे लोकों का स्वामी है, जो उसका अनुगामी है, वही ज्ञानी है, भक्त है, कर्म करने वाला है और स्वतन्त्र है।

स्वतन्त्र देश के वासी, मुक्ति के अभिलाषी मानव समाज के लिये गीता युग-युग में अपना यह सत्य का संगीत सुनाती है।

☆

६. संयम

समदृष्टि से राष्ट्र का बल बढ़ता है, व्यक्तित्व का विकास और सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। समदृष्टिवाला कर्मयोगी या संन्यासी दुर्लभ है, साधना और संयम के विना समता का ज्ञान नहीं होता। ऊँचे पहाड़ पर खडे होकर देखनेवाले को मैदान के बड़े और छोटे सारे वृक्ष समान दिखाई देते हैं। जो जितना ऊँचा उठता है उसकी दृष्टि में उतनी ही अधिक समता आती है।

अपने को उठाओ !

कर्मयोग के श्रेष्ठ मार्ग का प्रारम्भ अपने ही साथ सद्व्यवहार करने से होता है। अपने उद्धार के लिये किसी दूसरे का सहारा लेना व्यर्थ है। अपने को न गिरने दो, ऊँचे विचार, सादा रहन-सहन,

सात्विक आचरण, श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग यदि रहे तो गिरने का काम क्या ? मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु।

जो अपने को नियमित और संयमित रखता है, अन्तःकरण पर शासन करता है, वह अपना बन्धु है, और जो अपने आपको नहीं जानता, संयम हीन व्यर्थ जीवन खोनेवाला और इन्द्रियों का दास है वह अपने ही आप अपने साथ शत्रु जैसा बर्ताव करनेवाला है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

निज से करे उद्धार निज, निज को न गिरने दे कभी।
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही।
जाना न अपने को स्वयं रिपु सी करे रिपुता वही॥

(गी० अ० ६।५,६)

आत्मज्ञान इस प्रकार पहिले अपने ही साथ उचित व्यवहार करना सिखाता है, ज्ञानी अपने अन्तर में समता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। सुख, दुःख, मान, अपमान आदि द्वन्द्वों में सम रहता है। इस महान् साधना में सफल होने पर सुहृद, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, शत्रु, मित्र, बन्धु-बान्धव सबके साथ वह लोकसंग्रह की बुद्धि से समान व्यवहार करता है।

नव-शक्ति—

अपने व्यक्तित्व को ऐसा महान् बनाने के लि कर्मयोगी नरनारी नित्य-निरन्तर कुछ देर के लि एकान्त में बैठकर सारे प्रपंचों से मनको हटा चित्त और आत्मा का संयम करते हैं।

> योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
> एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

चित-आत्म-संयम नित्य एकाकी करे एकान्त
तज आश संग्रह नित निरन्तर योग में योगी

(गी० अ०

सड़कों पर पानी छिड़कनेवाली गाड़ी अपनी शत-शत धाराओं से पानी बखेरती चलती है। जब उसमें पानी नहीं रहता तब किसी जल के स्रोत से अथवा नल से फिर अपने में जल भर लेती है और जल छिड़कने के कार्य में लग जाती है। इसी प्रकार प्राणी संसार में कार्य करता हुआ थकता और शक्ति व्यय करता है। अपने में पुनः शक्ति को भरकर फिर कर्म करने के लिये तैयार होनेवाले का कर्तव्य है कि वह नित्य अखंड शक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़कर शक्ति प्राप्त करता रहे और नित्य नई रुचि, नया उत्साह, शौर्य और पराक्रम लेकर कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ता रहे।

नियमित जीवन—

जिसकी शक्ति व्यर्थ व्यय नहीं होती और जो व्यय की हुई शक्ति को सर्व-शक्तिमान् से पुनः प्राप्त कर लेता है, उसके पास तक रोग, राग, दुःखों की आग, इन्द्रियों के व्यभिचार और दुराचार नहीं पहुंचने पाते। वह अपने कर्त्तव्य कर्म में इस प्रकार

चंचल होकर लगा रहता है, जैसे हवा का झोका लगने पर दीपक की ज्योति अडिग रहती है।

ऐसा संयम न बहुत खाकर होता और न भूखे रहकर। न रात दिन सोने से होता और न हठपूर्वक जागते रहने से। जब सोना, जागना, आहार-विहार और सब कर्म यथायोग्य समय पर नियम-संयम से होते हैं, तब मनुष्य उस स्थिति में आता है, जहां कोई दुःख नहीं रहता।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

यह योग अति खाकर न सधता है, न अति उपवास से।
सधता न अतिशय नींद अथवा जागरण के त्रास से॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हों।
हो दुःख हारी योग जब परमित सभी व्यवहार हों॥

(गी० अ० ६।१६,१७)

इस प्रकार समय का सदुपयोग करके, शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि से उचित कार्य करता हुआ

मनुष्य परम सुखी और संतुष्ट होता है। इस सुख से कोई प्रलोभन भय या दुःख उसे डिगा नहीं पाता।

चाहे इसे योग कहो, ज्ञान कहो, भक्ति कहो, इस साधन की पूर्णता होने पर कोई दुःख नहीं रहता। उन्नतिशील और सुख के अभिलाषी मनुष्य को दृढ़-निश्चय करके ऐसी साधना करनी चाहिये।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

कहते उसे ही योग जिसमें सर्व दुःख वियोग है।
दृढ़ चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है ॥
(गी० अ० ६।२३)

समदृष्टि—

श्रीकृष्ण ने अपनी मधुर लीला से इस महान योग का संदेश दिया। उनके सम्पर्क में आनेवाले गोप-गोपियों की दृष्टि इतनी पवित्र और सम हो गई थी कि उन्होंने सब में श्रीकृष्ण को देखा और श्रीकृष्ण को सब में देखा। श्रीकृष्ण ने अपने आचरण से, वाणी से, मन से वही किया, जो सबके लिये

समान हितकारी था। वे आज भी किसी से दूर नहीं हैं।

योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं।
मैं दूर उस नर से नहीं वह दूर मुझसे है नहीं॥
(गीता अ० ६।३०)

नेता और जनता, स्वामी और सेवक, राजा और प्रजा सब जब यह समझें कि मेरे और दूसरे के सुख दुःख समान हैं, तो परस्पर प्रेम और सहयोग की वृद्धि होकर सच्चे साम्ययोग की स्थापना हो।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

सुख दुःख अपना और औरों का समस्त समान है।
जो जानता अर्जुन वही योगी सदैव प्रधान है॥
(गीता अ० ६।३२)

अर्जुन को यह साम्यवाद अच्छा तो लगा, पर उसने मन की चंचलता के कारण अपने को इस

साधना के योग्य नहीं पाया। उसने कहा—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण! मन चञ्चल, हठी बलवान है दृढ़ है घना
मन साधना दुष्कर दिखे जैसे हवा का बांधना।
(गीता अ० ६।३४

श्रीकृष्ण ने कहा कि 'मन चंचल तो है ही पर धीरे धीरे अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है।'

घुड़ सवार लगाम डालकर बड़े-बड़े चंचल घोड़ों पर सवारी कर लेते हैं। यदि सवारी न हो सके तो घोड़ा भी व्यर्थ है और सवार भी। यह एक दिन का काम नहीं है, धैर्य और उत्साह से प्रयत्न करनेवाले के लिये सब सम्भव है। इस मार्ग में या किसी भी श्रेयस्कर मार्ग में हानि और दुर्गति नहीं होती। एक जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में संस्कार बनते-बनते सर्वत्र शुभ भावना का प्रसार होते-होते समत्व योग की प्राप्ति होती है।

परम पुरुषार्थ श्रद्धा और प्रेम से प्रभु का सहारा लेकर कर्म में जुट जाओ। अवश्य कल्याण होगा।

७. ज्ञान की खान

संसार में जानने को बहुत है, पर सब कुछ जानकर भी यदि मनुष्य कुछ नहीं बना तो क्या जाना ? जानने के योग्य वह है, जिसके कण भर ज्ञान से भी मनुष्य महान् बन जाये और कुछ अधिक जानना न रहे। हम कौन हैं ? कहां से आये हैं ? जगत् का स्वरूप क्या है ? जीवन का सत्य क्या है ? मानव का कर्त्तव्य क्या है ? परम पुरुष कौन है ? आदि-आदि अनेकों प्रश्न और उनके उत्तर ज्ञान के विषय हैं। गीताज्ञान के सूर्य की एक ही किरण के प्रकाश में इन सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है—

> मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
> मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है
जिस भांति माला में मणी मुझमें गुथा संसार है
(गी० अ० ७

एक सर्वेश्वर परमेश्वर से परे और कुछ न है। यह सब जो कुछ है, वह उसमें इस प्रक गुँथा हुआ है, जैसे सूत्र में माला की मणिय हृदय की आंख देखती है कि सर्वत्र वही है। आका में शब्द, जल में रस, सूर्य चन्द्र में ज्योति, वेदों प्रणव वही तो है, प्राणियों में वह प्राण है।

अर्जुन ने महाभारत में विजय पाई। श्रीकृष्ण क ओर देखकर वे कृतज्ञता और अनन्य भक्ति स मुस्करा उठे। श्रीकृष्ण ने कहा अब तुम इस रथ से उतर चलो! शिष्टाचार के नाते अर्जुन ने कहा— आप बड़े हैं, वन्दनीय हैं, पहिले आप उतरिये, मैं आपका अनुगामी हूं।

श्रीकृष्ण के आग्रह से अर्जुन रथ से उतर गये और आज्ञा पाकर दूर खड़े हो गये। श्रीकृष्ण भी रथ से उतर पड़े। उन्होंने रथ छोड़ा ही था कि

वह धांय-धांय करके जल उठा और देखते-देखते राख का ढेर हो गया।

श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन यह रथ आग के अनेकों बाणों से बिंधा हुआ था, मैं अपनी योग-शक्ति से तुम्हें और इसे जलने से रोक रहा था। यदि मैं पहिले उतर जाता तो तुम रथ सहित भस्म हो जाते।"

श्रीकृष्ण प्राणीमात्र के देह रूपी रथों पर इसी प्रकार बैठे हुए आपत्तियों से रक्षा करते हैं; जो प्राणी अज्ञान और अवज्ञा से उन्हें अपनी देह छोड़ने से पहले नीचे उतार देता है, वह उसी क्षण जल कर मिट्टी में मिल जाता है।

जीवित रहते-रहते अपने प्राण स्वरूप श्रीकृष्ण को अलग करने में मृत्यु है। श्रीकृष्ण क्या हैं— विश्व के विराट् रूप। ऐसी कोई वस्तु नहीं और ऐसा कोई जीव नहीं, जिसमें श्रीकृष्ण न हों। जब सब में प्रियतम हैं तो पराया कौन? जो अपने अन्दर भगवान् की मधुरता और प्रेम सहित प्रतिष्ठा

नहीं होने देता, वह तो निःसन्देह विजातीय औ विदेशी है।

प्राणीमात्र से प्रेम करते हुए सब पर सद्भाव और श्रद्धा के फूल चढ़ाते चलो, भगवान् बहुत प्रसन्न होंगे। यह संसार भूल भूलइयां है पर इसमें जो भगवान् को नहीं छोड़ता वह पार हो जाता है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

यह त्रिगुण दैवी घोर माया अगम और अपार है।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है॥
(गी० अ० ७|१४)

श्रीकृष्ण के दिव्य और मधुर रूप को देखना है तो अपनेपन का अन्त करदो! चराचर में समा जाओ? यह अहंकार नहीं है कि मैं सब प्राणियों में हूं, आग में हूँ, पानी में हूँ, तप में हूँ, तेज में हूँ, यह तो मैंपन का अन्त है। 'तू और है, मैं और हूँ,' इस भाव का विनाश है। सब में अपने रूप के दर्शन करने वाला और सबके हृदय में समा जाने

वाला कोई ही महान् और पवित्र आत्मा होता है, ऐसा जो है वही श्रीकृष्ण है।

भक्ति तो सभी करते हैं, प्रेम करना भी किसी न किसी रूप में सब जानते हैं, पर ज्ञानी भक्त कोई ही होता है। कुछ दुःखों से पीड़ित होकर भगवान् को पुकारते हैं, कुछ अपने मन की कामनाओं को पूरा करने के लिये उसे मनाते हैं, कुछ जिज्ञासा से उसका नाम लेते हैं और कुछ ज्ञान होने के कारण उसमें बस जाते हैं। अच्छे तो ये सभी हैं, पर ज्ञानी भक्त सर्व-श्रेष्ठ है। उससे सब प्रेम करते हैं। जिसे सब चाहते हैं उसे ही भगवान् चाहता है, यही सर्वोच्चगति है।

संसारी पुरुष भगवत् पूजा के नाम पर बड़े-बड़े प्रपंचों में पड़े रहते हैं और कोई न कोई कामना लिये अनेकों देवी और देवताओं के सामने हाथ फैलाते हैं। जो जिस रूप का ध्यान करता है, उसमें उसकी श्रद्धा जम जाती है और यह भी एक रहस्य है कि श्रद्धा सहित जो जिसकी सेवा और पूजा

करता है, उससे उसकी कामनायें भी पूरी होती हैं, परन्तु जीवन पर्यन्त उन्हें मांगते रहना पड़ता है।

भक्त वह है जो भगवान् से कुछ मांगे न और कभी मांगना भी पड़े तो अर्जुन की भांति उ को मांग ले और फिर उनके हाथ में जीवन बागडोर देकर कहे कि जहाँ ले चलना है ले चलो जो कुछ कराना है कराओ! जो कुछ सिखाना सिखाओ! आप कहेंगे वही मैं करूँगा।

८. अन्त भला सो भला

जीवन भर ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म की खोज करते रहें और अन्त में कुछ काम न आये तो कोई लाभ नहीं। करना तो वह है जिससे अन्त सुधर जाय! संकट के समय भी जिसके ज्ञान का पतन न हो और घोर मृत्यु की यातनायें भी जिसे भगवद्-भाव से अलग न कर सकें, उसे भगवान् नित्य अपने साथ रखते हैं—कभी उसका साथ नहीं छोड़ते।

भगवान् को चाहे जब याद कर लेना और बुला लेना साधारण बात नहीं है, इसके लिये बड़ी साधना और अभ्यास चाहिये।

एक राजा ने कहा, 'यदि भगवान् है तो कोई मुझे उसका दर्शन करादे। जो कहेगा कि भगवान् है परन्तु दर्शन नहीं करा सकेगा, उसे प्राण दण्ड मिलेगा।' बड़े-बड़े विद्वान् और भक्त उसके राज्य में थे पर

मृत्यु के मुंह में कौन जाये। एक दिन एक वीतरा
निर्भय भक्त आया, उसने कहा, 'कल दरबार में आक
मैं सबको भगवान् के दर्शन कराउँगा।' दरबार लगा।
भक्तराज पहुंचे और राजा के हाथ की अगूंठी देखकर
बोले, 'राजन ! यह इतनी चमकदार वस्तु क्या है ?'
राजा ने नगर के सर्वश्रेष्ठ जोहरी को बुलाया और
उस रत्नपारखी ने कहा कि यह अमुक रत्न है। रत्न
बहुत तरह के होते हैं और उनके जानने की एक
विद्या है। भक्त ने कहा, 'वह विद्या मुझे अभी
सिखाओ।' राजा और जौहरी हँस पड़े, जो विद्या
जौहरी को पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती रही है,
जन्म से मृत्यु तक उसके परिवार के लोग उसी
विद्या का अभ्यास करते हैं, उस विद्या को एक
दुनियांदारी से अलग रहनेवाला साधु क्षण भर में
कैसे सीख सकता है ?

भक्त कुछ क्रोधित हो गये। उसी समय वायु के
एक स्पर्श से सुगंधि की एक लहर उन तक पहुंची।
उन्होंने कहा, 'राजन ! यह सुगंधि किसकी है।' उसी

जो भगवान् को देखना चाहते हैं, उन्हें अप
साथी सखा या स्वामी बनाना चाहते हैं, उनके लि
स्वयं श्रीकृष्ण उपाय बताते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही सुमर कर युद्ध भी
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मुझमें धर सभी।
(गीता अ० ८।७)

संसार का कार्य करते चलो। परन्तु किसी भी
कर्म में मुझे न भूलो? फिर मैं तुम्हें कैसे भूल
सकूंगा। यदि मृत्यु भी तुम्हारे सन्मुख आयेगी, तो
उसमें भी तुम मुझे ही देखोगे, मारक रूप में नहीं,
तारक रूप में। मुझे याद रखो मैं तुम्हारे पास हूं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से।
नित युक्त योगी वह मुझे पाता सरल सी रीति से॥
(गीता अ० ८।१४)

प्रत्येक समय भगवान् में निवास करनेवाला और अपने कर्मों से उनकी सेवा करनेवाला नित्य परमधाम में वसता है। मुक्ति उसके सहवास से प्रसन्न होती है।

मुक्ति पाने का एक और भी रहस्य है—मृत्यु के समय यदि ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित हो, भगवान् की ज्योति जाग रही हो, सर्वत्र उज्ज्वल प्रकाश हो, शुभ कर्मों के दिन हों और पुण्य के अयन हों तो सब दुःख छूट जाते हैं। इसके विपरीत यदि अज्ञान की घटा हो, भगवान् से विमुखता हो, सर्वत्र अन्धकार हो, अशुभ कर्मों का उदय हो और पाप के अयन हों, तो मुक्ति नहीं मिलती।

यही ज्ञान का रहस्य है। वेदों से, यज्ञों से, तप से, जो कुछ पुण्य-फल मिलता है, उससे भी अधिक इस ज्ञान का आचरण करनेवाला पाता है।

६. राजयोग

श्रीकृष्ण ने अपने हृदय को अर्जुन के हृदय में मिला दिया, उन्होंने देखा कि अब अर्जुन की बुद्धि निर्मल और निर्दोष है, इसलिये वे और भी अधिक घनिष्ठता और प्रेम से बात करने लगे। जिसका स्वभाव प्रत्येक बात में दोष ढूंढने का है, उसमें गुण ग्रहण करने की योग्यता नहीं रहती।

धर्म ज्ञान और विद्या वही है, जो प्रत्यक्ष हो जाय, जिससे पवित्रता और सुख का प्रसार हो; गंध-हीन पुष्प की जैसे सुगन्धि नहीं फैलती, इसीप्रकार सत्य और पवित्रता से रहित धर्म और विद्या से श्रेय और अभ्युदय नहीं होता।

बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक आविष्कारों से संसार बहुत छोटा हो गया है। दिल्ली से बैठकर विलायत तक यंत्र द्वारा बातचीत की जा सकती है। जिन धामों और पवित्र स्थानों में बड़ी कठिनाई और परिश्रम से राम-राम करके पवित्र हृदय नर-नारी पहुंचते थे, वहां अब रेलों और वायुयानों द्वारा सहस्रों प्राणी बिना परिश्रम पहुंचते हैं। प्राचीन समय में धार्मिक ग्रन्थों को एक दूसरे से सुनकर तत्त्व ग्रहण कर लिया जाता था, कंठस्थ भी किया जाता था, परन्तु अब लाखों और करोड़ों पुस्तकें छप कर घर-घर पहुंचती हैं। सत्संग और कीर्तनों का तो वारापार ही नहीं, परन्तु यह सब कुछ होते हुए मानव हृदय कितना पवित्र हुआ? ईश्वर हमारे कितने निकट आया? धार्मिक कहे जाने वाले कितने दीर्घायु, स्वस्थ, मेधावी और सुखी हुए? राष्ट्र ने कितनी उन्नति की? इन प्रश्नों का उत्तर असंतोष-जनक मिलेगा। जब जड़ ही सूखी है; तो वृक्ष हरा कैसे हो? सत्य और पवित्र भाव के

विना श्रद्धा-विहीन कृत्यों में सार नहीं रहता और जब धर्म व्यवसाय बन जाता है, तब उसकी संपूर्ण पवित्रता और शक्ति ही नष्ट हो जाती है।

नवें अध्याय में श्रीकृष्ण सब विद्याओं में श्रेष्ठ राज-विद्या का इसीलिये उपदेश देते हैं कि मनुष्य पवित्र और उत्तम ज्ञान का अधिकारी बने! उसे ऐसे धर्म का बोध हो, जो सरल हो; सुखकर हो और प्रत्यक्ष प्रभाव वाला हो। नवां अध्याय गीता-मंत्र-माला का सुमेरु मणि है।

यह सारा संसार परमात्मा से भरा हुआ है। यदि ज्ञान दृष्टि से देखा जाये तो निराकार-ब्रह्म विश्वरूप में साकार हो रहा है—

माया का पट दूर हटादो, ब्रह्म दिखेगा घट-घट में।
हम में, तुम में, खड़ग-खम्ब में घर बाहर वंशीवट में॥
भीतर बाहर दूर पास है गंगा में यमुना तट में।
ज्ञान दृष्टि से देख! दिखेगा अपने ही अन्तरपट में॥

आकाश में जैसे सर्वत्र वायु रहती है; इसी प्रकार भगवान् में सम्पूर्ण प्राणी रहते हैं और सब

प्राणियों में भगवान् रहता है। साधारण मनुष्य इस महाभाव को नहीं जानते और मनुष्य तनधारी परमेश्वर की अवज्ञा करते हैं। अपने सन्मुख खड़े हुए साकार देवता से प्रेम न करके, वे निराकार की खोज में भटकते हैं।

मनुष्य, मनुष्य को भूखा और नंगा देख सकता है। दुखी, दरिद्री और बेघर-बार नर-नारियों को देखकर भी वह दया से द्रवित नहीं होता; यह ईश्वर की अवहेलना नहीं तो क्या है? इसी का नाम नास्तिकता है। उनके धर्म कर्म और ज्ञान व्यर्थ हैं, जो ऐसे मोहमय, स्वार्थमय और आसुरी स्वभाव वाले हैं।

जो महात्मा हैं, जिनके हृदय में राष्ट्रोन्नति की हिलोरें उठती हैं, जो किसी को दुःखी नहीं देखना चाहते, वे ईश्वर को सब प्राणियों का मूल कारण देखते हैं, सबकी सेवा द्वारा उसी में मन रखते हैं और सबको सुखी एवं प्रसन्न करके उसका भजन करते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
दैवी प्रकृति के आसरे बुध जन भजन मेरा करें ।
भूतादि अव्यय जान पार्थ ! अनन्य मन से मन धरें ॥
(गीता अ० ६।१३)

दैवी-स्वभाव वाले नर-नारी नित्य-निरन्तर अपने प्रत्येक कर्म से भगवत्-कीर्तन करते हैं । बड़े यत्न के साथ दृढ़तापूर्वक सेवा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों को धारण करके श्रद्धा और प्रेम सहित भगवान् को नमस्कार करते हैं और भक्ति-पूर्वक सदा उसकी उपासना करते हैं ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
नित यत्न से कीर्तन करें दृढ़व्रत सदा धरते हुए ।
करते भजन हैं भक्ति से मम वन्दना करते हुए ॥
(गीता अ० ६।१४)

भगवान् के पास बैठकर कर्म करने में सतर्कता और सावधानी तो रहती ही है, साथ ही उससे शक्ति और नव-स्फूर्ति भी प्राप्त होती है । अनुचित कर्म उसी समय होते हैं जब कर्ता भगवान को भूल जाता

है। भगवान के पास अशुभ उसी प्रकार नहीं ठहरता, जैसे सूर्य के सन्मुख अन्धकार।

जहां राम तँह काम नहिं, जहां काम तहं राम।
तुलसी कबहुँ कि हुई सकें, रवि रजनी इक ठाम॥

मनुष्य के सब कर्मों को वह प्रभु साक्षी होकर देखता है। सबकी गति उससे है, भरण-पोषण उसी से होता है। सबका निवास वह है, सबको आश्रय देनेवाला वह है। उसका हृदय कोमल है, इसलिये वह सबका मित्र है। उत्पत्ति और प्रलय उसीसे होती है। वही मूलस्थान है और अव्यय बीज है। जो कुछ हो रहा है, उसके संकेत से हो रहा है। ताप, वृष्टि, सूखा, अमृत, मृत्यु, सत्, असत् सब उसी से हैं। ऐसे प्रभु को छोड़कर किसी धन, वस्त्र और सुख का क्या महत्व है?

उसकी कृपा के गीत कहां तक गाये जांय, ऐसा आश्वासन देनेवाला कोई नहीं। सबका भार उठाने के लिये वह तैयार है और बदले में कुछ नहीं चाहता। अपने सब पुत्रों को प्रेम से हिलमिल कर

रहते देख वह प्रसन्नता से गद्गद् होता है औ
कहता है, तुम सब एक होकर रहो! व्यर्थ इध
उधर मन को भटका कर शक्ति नष्ट न करो? तभ
मेरा अनन्य मन से चिंतन होगा। ऐसे चिंत
करनेवाले की सेवा मैं प्रत्येक क्षण करता हूं औ
देखा करता हूँ कि अपने प्रिय का कौनसा काम मैं
कर सकता हूं?

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

भजते मुझे जो नित्य योगी जन अनन्यासक्त हो।
उनका करूँ मैं योग-क्षेम सदैव ही अनुरक्त हो॥
(गीता अ० ९।२२)

परमेश्वर को किसी की कोई वस्तु नहीं चाहिये, परन्तु फिर भी यदि कोई पवित्र मन से पत्र, पुष्प, फल, जल, जो कुछ भी अर्पण कर देता है, उसे वह बड़े प्रेम से स्वीकार करता है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से।
।। प्रयत-चित भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से ।।
(गीता अ० ९।२६)

संसार की यही प्रथा है। कोई किसी की वस्तु का
खा नहीं, पर मान का पान भी सबको प्रिय होता
। श्रीकृष्ण ने अपनी भक्ति के रूपक में संसार
ो सद्-व्यवहार करने का सन्मार्ग दिखाया है।
तहां प्रेम, मान और सद्भावना नहीं है, वहां देवता
ो क्या मनुष्य भी मिलना बैठना नहीं चाहते।

आये आदर ना करें, नयनन नहीं सनेह।
तुलसी तहां न जाइये, कंचन बरसे मेह ।।

अतः जिनमें हृदय है, जो देश में प्रेम और सद्भावना देखना चाहते हैं, जो मानवरूप में परमात्मा के उपासक हैं, या जो किसी भी रूप में ब्रह्म और सत्य की खोज में हैं; उनका एक ही कर्त्तव्य है—'जो कुछ किया जाय, वह सब विश्वरूप भगवान् के अर्पण कर दिया जाय', करना वही है जिसे भगवान् और भगवान के कोटि-कोटि पुत्र प्रसन्नता से स्वीकार करें —

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

कौन्तेय! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी
नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी

ऐसा करने के पश्चात् दुःख और दुखी को नहीं रहेगा। दुष्टता का स्वयं ही अन्त हो जायगा यदि कोई दुष्ट होगा भी तो वह सबके सत्संग रं भक्ति में लग जायगा और शीघ्र ही सत्य और शान्ति पालेगा।

श्रीकृष्ण का कथन है—'न मे भक्तः प्रणश्यति' मैं सत्य कहता हूँ, मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता और तो क्या जो बहुत पीछे हैं, ज्ञान में, तप में, बल में, विद्या में हीन हैं, वे भी मेरी शरण लेकर परमपद पाते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

पाते परम पद पार्थ! पाकर आसरा मेरा सभी।
जो अड़ रहे हैं पाप गति में वैश्य वनिता शूद्र भी॥
(गीता अ० ६।३२)

'जो राजर्षि हैं, पुण्यात्मा हैं, ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण हैं; उनकी तो बात ही क्या है? इसलिये इस दुःखमय संसार में मुझे न भूलो! यह सुखमय बन जायगा।'

चतुराई चूल्हे पड़े, भाड़ पड़े ससार।
तुलसी हरि की भक्ति बिन, चारों वर्ण चमार॥

संसार का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान और विज्ञान जन-संहारक एटम बम और विनाशकारी वस्तुओं के निर्माण में नहीं है, वह तो है, विश्वरूप भगवान् की सेवा में, प्रेम और माधुर्य के प्रसार में; इसलिये श्रीकृष्ण का कथन है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

बन भक्त मेरा मन लगा कर यजन वन्दन नेम से।
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त होकर प्रेम से॥

१०–विभूतियोग

अर्जुन का श्रीकृष्ण से अगाध प्रेम था।
प्रेम-सम्बन्ध और भी दृढ़ होगया जब सत्य
धर्म के एक पथ पर दोनों का मन मिल गया
आगे बढ़ने की उत्सुकता जागी। संसार में
नाता किसी सम्बन्ध या स्वार्थ से नहीं जुड़ता,
पथ पर चलनेवालों में स्नेह का संचार स्वयं ही
जाता है।

श्रीकृष्ण की सत्य और सार भरी वाणी
अर्जुन को आनन्द मिला, उसने उसे ग्रहण किय
अतः श्रीकृष्ण उससे कुछ और भी अधिक कह
के लिये तय्यार हुए। उन्होंने अर्जुन के लि

सम्पूर्ण ज्ञान का द्वार खोल दिया, उसी प्रकार जैसे पिता अपने योग्य उत्तराधिकारी पुत्र के लिये।

श्रीकृष्ण ने कहा—"मुझे जो ठीक रूप में पहिचानता है वह मनुष्य की महानता को भलीभांति समझ पाता है। ऐसा पुरुष जो मेरी महत्ता को समझ लेता है वह मनुष्यों में चतुर पापों की ओर नहीं जाता। वह उस ओर बढ़ता है जहां बुद्धि, ज्ञान, सत्य, दम, शम, सुख-दुख, भय-अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश आदि प्राणियों के सब भावों का मूल स्थान 'मैं' रहता हूं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो ईश्वरत्व से शून्य हो। मैं ईश्वररूप में प्रत्येक पदार्थ में समाया हुआ हूँ। 'मेरी विभूतियां और योग-शक्ति अपार है', इस तत्व को जानकर ज्ञानी पुरुष एक क्षण के लिये भी मुझे नहीं छोड़ते। जो मुझे नहीं छोड़ते अर्थात् कर्म करते हुए मुझ में टिके रहते हैं, मेरी योग-शक्ति का लाभ उठाते हैं, उन्हें मैं भी नहीं छोड़ता और उनमें इस प्रकार स्थान बना लेता हूँ, जैसे शरीर में आत्मा अथवा सूर्य में प्रकाश।

जो मेरे और अपने बीच में किसी भी भय कामना अथवा पदार्थ को नहीं आने देते, निरन्तर मेरा स्मरण करते हैं, प्रेम श्रद्धा सत्य ब्रह्मचर्य आदि क्रियाशील भावों से मेरा भजन करते हैं, उनको मैं बुद्धियोग देता हूं। ऐसा बुद्धि का योग जो मुझे तुरन्त पा लेता है और संसार के अन्धकार में भी सर्वत्र मुझे ही देखता है।"

गीता किसी धर्म अथवा विशेष साधना का प्रतिपादन नहीं करती। यद्यपि उसमें सब धर्मों तथा साधनाओं के रहस्य हैं, तथापि उसकी विशेषता मनुष्य को बुद्धियोग प्रदान करने में है। सनातन ऋषियों ने जिस महान सत्य की खोज की है उसमें बुद्धि की महिमा महान है। सब मनुष्य स्वतन्त्र हैं, सब अपनी-अपनी मान्यताओं और विश्वासों का पालन कर सकते हैं, परन्तु मनुष्य वही है जिसकी बुद्धि जागृत हो जाय। इसलिये हमारे सर्वश्रेष्ठ महामन्त्र गायत्री में शुद्ध बुद्धि को प्राप्त करने और क्रियाशील बनाने की प्रार्थना की गई है—

बुद्धि तो प्रत्येक प्राणी में होती है, परन्तु चेतना

पवित्र है, वे आदि देव अजन्मा अविनाश परब्रह्म हैं।

अर्जुन की इच्छा हुई कि वह प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर का दर्शन करे और प्रत्येक रूप में उसका चिन्तन करना जान ले, अतः उसने सहज भाव से प्रार्थना की कि "हे कृष्ण ! तुम्हारी इस पवित्र ज्ञान और सार-तत्व से ओत-प्रोत वाणी को सुनते-सुनते मेरा मन नहीं भरता, मैं जानना चाहता हूं कि आपको चराचर में कैसे देखूं ? हे कृष्ण ! अपनी योग-शक्ति और विभूतियों का रहस्य मुझे बताइये।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"मेरी विभूतियों का कोई पार नहीं, फिर भी सारांश यह कि मैं सब प्राणियों में स्थित अन्तरात्मा हूं, सबका आदि मध्य और अन्त मैं ही हूं, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विष्णु, ब्रह्मा, महेश, इन्द्र, ओंकार सब में मैं समाया हुआ हूं, आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी काल और समय मेरे ही रूप हैं। गंगा का पवित्र प्रवाह, वन और पर्वत सब में मेरी झांकी है। धन, बल, विद्या, ऐश्वर्य और

भोगों में भी मैं रहता हूं। मेधा, कीर्ति, वाणी श्री धृति, क्षमा और स्मृति आदि में मेरा निवास है। इतना ही नहीं जहां मैं तेजस्वियों में तेज हूं, जय हूँ और सत्वशीलों का सत्व हूँ, वहां छलियों में जूआ भी मैं हूँ। बड़े से बड़े पुण्य और बड़े से बड़े पाप में भी मैं हूं जो जिस ओर जाता है उसे वैसे ही रूप में मैं मिलता हूं।"

इस प्रकार चराचर में भगवान् व्याप्त हैं, ऐसा जानकर ही मनुष्य को व्यवहार करना चाहिये और साररूप में यह समझना चाहिये कि भगवान् के एक अंश से सारे जगत् की स्थिति है, उस एक अंश को प्राप्त कर लेने से सब कुछ प्राप्त होजाता है। उसे छोड़कर कोई जायेगा भी कहां? धनवान् हो या दरिद्री, बलवान हो या निर्बल, पुण्यात्मा हो या पापी, सभी भगवान् के हैं। जिसने जिसमें अपने मन को लगाया है उसी को पाया है, यही जगत् का नियम है। फिर क्यों न हम महान् शक्तिशाली सबके त्राता आश्रयदाता, परम पवित्र सनातन ब्रह्म की ओर ही बढ़ें और जीवन का लाभ उठायें।

११—विश्वरूप-दर्शन

चराचर में भगवान् समाये हुए हैं, जो एक है वही अनेक में है—इस पवित्र आत्मा के ज्ञान से अर्जुन का मन प्रफुल्लित हो उठा। उसने जो कुछ सुना उसे देखने की इच्छा उसमें जागी। अर्जुन ने जिज्ञासा और विनम्रता से प्रार्थना की—'हे श्रीकृष्ण, मैं आपके उस परम तेजोमय, ज्ञान शक्ति बल और वीर्य से युक्त महारूप के दर्शन करना चाहता हूं। चराचर में आपको देखकर मेरा मन शान्त होगा।'

श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए। परमात्मा चाहता है कि उसका मित्र प्राणी, सबमें एक और एक में सबको देखे। नर में जब ऐसी इच्छा उठती है तो

नारायण तुरन्त उस पर कृपा करते हैं। श्रीकृष्ण
ा—
"अर्जुन! मेरे अनेक प्रकार के दिव्य रूपों को
।। मेरी देह में सारा चराचर समाया हुआ है।"
अर्जुन ने श्रीकृष्ण की ओर देखा, पर कुछ
। न सका। श्रीकृष्ण मुस्कराये और बोले—
ाधारण नेत्रों से मैं नहीं दीखता, मुझे सर्वत्र
ने के लिये दिव्य दृष्टि चाहिये। मैं तुम्हें दिव्य-
ट देता हूं, उससे मेरे योग का ऐश्वर्य देखो।"
आंखें तीन प्रकार की होती हैं—एक साधारण
र्म-चक्षु, जिनसे मनुष्य रात-दिन संसार का व्यव-
र देखता है, पर देखते हुए भी कुछ नहीं देख
ता। दूसरी वे आंखें जिनसे सब में एकता का
र्शन होता है और आत्मा की ज्योति में सब का
ःख सुख हानि-लाभ एक समान समझ पड़ता है,
सी आंखें समता क ज्ञान से मिलती हैं। तीसरी
आंखें वे हैं जिनमें कभी विकार नहीं आता और
जो जहां तक जाती हैं एक ही भगवान् को देखती
हैं। ऐसी आंखोंवाला दिव्य-द्रष्टा होता है। दिव्य-

दृष्टि में ही वह सामर्थ्य है जिससे मनुष्य विश्वरूप का दर्शन प्रत्यक्ष कर सकता है।

साधारण आंखों पर जब आत्म-ज्ञान चढ़ता है और साधना का अंजन जब उनमें लगाया जाता है तब समदृष्टि मिलती है। साम्यवाद और समाजवाद, समदृष्टि की ही उपज हैं। सनातन ऋषियों ने समाज के हित और देश की स्वतन्त्रता के लिये धर्म में सम-दर्शन को ऊंचा स्थान दिया। उन्होंने इस सत्य को भी जाना कि भगवान् के आधार पर खड़े हुए मनुष्यों में ही समानता होती है; उस आधार के छूट या टूट जाने से ऊंच-नीच और छोटे-बड़े का भाव उभर आता है, अतः भारत का सनातन साम्यवाद युग-युग तक रहनेवाला अमर प्रकाश है। ईश्वर के आधार पर न टिककर मानुषी आधार पर खड़े होनेवाले साम्यवाद में सद्भावना नहीं रहती और वह एक सीमित तथा क्रूर वाद बनकर रह जाता है।

साम्यवाद को चिर-स्थायी और सर्व-हितकारी बनाने के लिये गीता और भी आगे बढ़ती है और

मनुष्य को तीसरे प्रकार की आंख अर्थात् दिव्य दृष्टि देती है। दिव्य दृष्टि, संयम साधना सद्भावना और गुरु-कृपा का प्रत्यक्ष फल है। अर्जुन में प्रत्येक सत्य को ग्रहण करने की प्रतिभा और सावधानी थी; अतः उसे श्रीकृष्ण ने एक सर्वश्रेष्ठ मार्ग दिखाया, जिस पर पैर बढ़ाते ही अर्जुन में विलक्षण स्फुरणा हुई और उसकी आंखें खुल गईं, उसने देखा कि एक सूर्य की तो क्या बात सहस्रों सूर्य उदित हो जायें तब कहीं मनुष्य-तन-धारी महात्मा श्रीकृष्ण के प्रकाश की कुछ समानता करने के योग्य हों। उसने श्रीकृष्ण के मानवी शरीर में सभी को स्थित देखा। सारे जगत् के लिये श्रीकृष्ण की देह में स्थान था, सब उसमें आश्रय पा सकते थे और कुछ भी ऐसा नहीं था जो श्रीकृष्ण में न हो।

'मनुष्य इतना महान हो सकता है कि सब कुछ उसमें समा जाय, वह अपने उदार अंक में सबको भर ले और सबका यथासमय, यथायोग्य उपयोग करे!' यह देखकर अर्जुन के शरीर में रोमांच हो उठा। अद्भुत शक्ति के सामने उसका सिर झुक गया, हाथ

स्वयं ही जुड़ गये और गद्गद् होकर वह कहने लगा—

'हे कृष्ण! मैं तुम्हारे महामानवी शरीर में देवताओं को देखता हूं। ऋषि और मुनि इसमें आसन जमाये बैठे हैं। ब्रह्मा इसी शरीर में प्रजा की उत्पत्ति कर रहा है, तुम्हारे अनेकों बाहु हैं, अनेकों मुख और आंखें हैं, अनेकों पेट हैं, मानो संसार के सब मनुष्यों के हाथ पैर और मुख तुम्हारे ही हो गये हों। मैं तुम्हारे विश्वरूप को चारों ओर-सर्वत्र देख रहा हूँ। तुम अपनी अद्भुत शक्ति से सबका शासन करते हो, सारी दिशाओं को प्रकाशमान कर रहे हो और मनुष्यमात्र को उत्साह प्रेरणा और क्रिया-शक्ति से भर रहे हो। आपके मस्तक पर महानता का मुकुट है, हाथ में दुष्कृत-विनाश के लिये गदा और संसार को चलाने के लिये अभय-दान देनेवाला चक्र है। आप रहस्यमय हैं, जानने के योग्य हैं, सनातन पुरुष हैं, अपने तेज और प्रकाश से सारे संसार को भर रहे हैं। सूर्य और चन्द्रमा आपकी आंखें हैं, पृथ्वी से आकाश

तक आप ही आप हैं, तीनों लोक आपके विश्वरूप से भयभीत हैं।

मैं देखता हूं कि आपका तेज कुछ ऐसा है कि बड़े-बड़े योद्धा बल और शक्ति का दावा करनेवाले स्वयं ही आपकी ओर खिंचे आ रहे हैं और आपकी दाढ़ों में लटके हुए हैं। जैसे नदियां समुद्र की ओर जाती हैं उसी प्रकार सब आपमें मिलने जा रहे हैं और जैसे पतंगे ज्वाला पर गिरते हैं वैसे ही सब आपकी ओर आ रहे हैं। आप कितने उग्र हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। हे देव! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, चाहता हूँ कि आप शान्त और प्रसन्न रहें, इसीमें सबका कल्याण है। आपकी प्रवृत्ति का पार कौन पा सकता है?'

गीता का यह अध्याय मनुष्य की महान् शक्ति का दर्शन है। मानव-तन में भगवान् ही नहीं सम्पूर्ण विश्व है। जब मनुष्य उग्र होता है तो संसार पर भय तथा संहार छा जाता है और मनुष्य जब प्रसन्न होता है तो सर्वत्र शान्ति और सुख के बादल बरसते हैं।

पाप, ताप बलात्कार आदि दुष्कृत्य
जाते हैं तो महा-शक्तिशाली मानव काल बन
हो जाता है।

श्रीकृष्ण ने कहा—"मैं लोक का संहार
वाला महाकाल हूं। अर्जुन तुम लड़ो या
इन अभिमानी योद्धाओं का अन्त निश्चित है
ऐसा है तो उठो, अपने परम-पुरुषार्थ से शत्रु
पराजित करो और सुख से सम्पन्न साम्र
उपभोग करो! हे पार्थ! मैंने इन दुष्कर्मि
पहिले ही मार दिया है, तुम केवल निमित्त
होकर आगे बढ़ जाओ।"

मनुष्य अपने शुभ कर्मों से जीवित रह
और अशुभ कर्मों से मर जाता है। कौर
मृत्यु उसी दिन हो गई थी जब उन्होंने द्रौप
ओर बुरी आंखों से देखा, परनारी और प
पर आंख उठाई और छलबल से सत्यनिष्ठ पा
को पीड़ित किया। ऐसा करके भी उन्होंने
स्वरूप शान्ति के सन्देश-वाहक श्रीकृष्ण का
करना चाहा। उस महामानव की विकट ग

और भर्त्सना से कौरवों का संहार हो चुका था। फिर भी श्रीकृष्ण ने समझाया कि जो मनुष्य जिस कर्म के लिये अवतरित हुआ है उसे पूरी शक्ति सामर्थ्य और भावना के साथ उस कर्म में लगना चाहिये, यही सफलता का रहस्य है। सब कार्य तो हुए रखे हैं, सुख और विजय मनुष्य के लिये नित्य उपस्थित हैं, केवल निमित्त बनकर मनुष्य को क्रियाशील होना है।

अर्जुन ऐसा सुनकर श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—'जगत् आपका गुणगान करने से प्रसन्नता पाता है और आपसे विमुख होनेवाले असुर आपके तेज के सम्मुख ठहर नहीं पाते। हे महामानव! देव-स्वरूप! विश्वरूप! आप अपार और अनन्त हैं। मैं चारों ओर से आपको प्रणाम करता हूं। आप सर्वत्र हैं, सब में समाये हुए हैं और महान हैं। मैं आपके मानव-तन की श्रेष्ठता और अद्भुत शक्ति न समझ कर न जाने क्या-क्या अपराध करता रहा हूँ। हे कृष्ण! हँसी में, आहार-विहार, उठते-बैठते सोते या किसी व्यवहार में

मुझसे जो भूलें हुई हों उन्हें आप क्षमा करें। आप गुरुओं के गुरु हो, चराचर के पिता हो, तीनों लोकों में आपका प्रभाव अनुपम है। मैं चाहता हूँ कि आप प्रसन्न हों और विश्व की शान्ति के लिये सौम्य रूप में दर्शन दें।

श्रीकृष्ण ने अपने उग्र रूप को समेटा और अत्यन्त प्रसन्न शान्त रूप धारण किया। उन्होंने कहा—'मेरे विश्व-रूप का दर्शन न तप से होता, न वेदों के अध्ययन से, दान और यज्ञों से भी मुझे पा जाना सम्भव नहीं है, मुझे वह पाता है जो मुझे अनन्य रूप से सब चराचर में देखता है और मेरी भक्ति करता है।'

भगवान् भक्तों के भोग से नहीं रीझते। उन्हें कोई क्या दे और भक्तों से वे इच्छा भी कौनसी करें? भक्तों का अनुभव है—

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः

जो सब प्राणियों पर कृपा करता है उस पर सर्वात्मा हरि प्रसन्न होते हैं। भगवान् जिस पर

प्रसन्न होते हैं उसी का जन्म और जीवन सफल है, वह नित्य आनन्द-सुधा-सिन्धु में निमग्न रहता है। महात्मा कबीर ने अपने अनुभव से कहा है—

शून्य मरे अजपा मरे अनहद हू मर जाय।
रामसनेही ना मरे कहे कबीर समुझाय॥

राम से स्नेह करने का अथवा सर्वश्रेष्ठ भक्ति का सार इस अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बताया—

'मैं अपना भक्त उसे मानता हूँ जो सब कर्म मेरे लिये करता है, मुझे प्रत्येक समय प्रत्येक प्राणी में देखता है, मेरी सेवा और भक्ति के लिये जो नित्य सावधान रहकर मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम बखेरता है, किसी से वैर नहीं करता और किसी में आसक्त नहीं होता।'

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

मेरे लिये जो कर्म-तत्पर, नित्य मत्पर भक्त है।
पाता मुझे वह जो सभी से वैरहीन विरक्त है॥

१२—अमृत-धर्म

विश्वरूप का दर्शन करके अर्जुन में श्रद्धा और भक्ति का भाव जागृत हुआ, मानो उसके तन मन में एक दिव्य प्रकाश हो गया हो और उस प्रकाश में वह सर्वत्र परमेश्वर को देख रहा हो। उसे एक श्रीकृष्ण अपने सन्मुख दीख पड़े और दूसरे श्रीकृष्ण अनन्त-रूप में विश्व के कण-कण में समाये जान पड़े। श्रीकृष्ण ने विश्वरूप का दर्शन देकर अपने मिलने के दो मार्ग दिखाये—एक साकाररूप की भक्ति—वन्दना और अपने उपास्य के लिये कर्म करना और दूसरा सब प्राणियों में परमेश्वर को जानकर निराकार रूप में उसकी पूजा करना अर्थात् सब से निर्वैर रहना।

जैसे तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग की उलझन में फंसा था और फिर पांचवें अध्याय में उसने यह जानना चाहा था कि कर्मयोगी श्रेष्ठ है या संन्यासी, इसी प्रकार इस अध्याय में भी उसे जिज्ञासा हुई कि साकार उपासना श्रेष्ठ है या निराकार ? श्रीकृष्ण ने वही उत्तर दिया जो पहले दे चुके थे। उन्होंने कहा—'ये दोनों मार्ग एक ही ध्येय पर पहुंचाते हैं। जैसे भक्ति के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना भक्ति का मर्म नहीं जाना जाता और जैसे कर्म किये बिना संन्यास सिद्ध नहीं होता और संन्यास के बिना कर्म के दोष नहीं कटते, इसी प्रकार सगुण भक्ति के बिना निर्गुण भक्ति दुर्लभ है और निर्गुण के बिना सगुण में दृढ़ता नहीं होती।

गीता की विशेषता समन्वय है। वह कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखनेवाले को श्रेष्ठ ज्ञानी अथवा योगी मानती है। कर्म करके जो ऐसा रहता है जैसे कुछ भी न किया हो वह ज्ञानी कर्म-योगी है और कुछ न करते हुए जो सब कुछ करता रहता है

वह अकर्म में कर्म देखनेवाला श्रेष्ठ संन्यासी है। इसी प्रकार ईश्वर के साकार रूप में— मूर्ति में संपूर्ण विश्व का दर्शन करनेवाला सगुण रूप का उपासक निर्गुण को अपने में समा लेता है और सारे विश्व में ईश्वर को देखनेवाला निर्गुण रूप का उपासक सगुण की प्रतिष्ठा करता है। श्रेष्ठता दोनों मार्गों में एकता देखनेवाले की है। एक मनुष्य केवल अपने माता-पिता और अपने ही गुरु की सेवा करता है, उनकी सच्ची सेवा करके उसे जो ज्ञान होता है उस से वह अन्य नर नारियों की भी माता पिता और गुरु के समान सेवा करने लगता है—यह साकार उपासना से निराकार की प्राप्ति है। दूसरा मनुष्य सम्पूर्ण विश्व में अपने ही माता-पिता, गुरुजन और बन्धु बान्धवों को देखता है एवं सब की सेवा करता है, ऐसा करने में अपने सगे सम्बन्धियों की सेवा तो अवश्य हो जाती है, यह निर्गुण उपासना से सगुण उपासना की पूर्ति है। किसी मार्ग को दृढ़ता से पकड़ लेने पर साधना और सिद्धि स्वयं प्राप्त होती हैं।

श्रीकृष्ण ने दोनों तत्त्वों को अर्जुन के सामने

रख दिया और कहा—"जैसा तुम्हें अच्छा लगे वैसा करो, पर आसानी के लिये जैसे संन्यास से कर्म-योग सरल है और कर्म का प्रारम्भ किये बिना संन्यास नहीं होता इसी प्रकार अव्यक्त की उपासना से व्यक्त की उपासना सरल है। सगुण की साधना के बिना निर्गुण की साधना कठिन है।"

हनुमान् राम के साकार रूप के उपासक थे, उन्होंने अपने आप को रात-दिन राम की सेवा में लगा दिया और राम के काम के लिये ही अपना जन्म और जीवन माना। दूसरी ओर भरत ने राम की आज्ञा से प्रजा की सेवा में ही राम की सेवा जानी और राम की सगुण चरण पादुकाओं का आधार ले कर उपासना की। दोनों भक्त अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ थे। हनुमान में यदि भारी से भारी पर्वत उठा कर चलने की शक्ति थी तो भरत के रक्षक बाण में पहाड़ों के भारी बोझ सहित भक्त को पार पहुंचाने की सामर्थ्य थी।

जो ईश्वर के किसी भी रूप में मन लगाते हैं वे उसे पा जाते हैं। प्रश्न है मन और इन्द्रियों के साधने

का। सगुण का उपासक अपनी इन्द्रियों और मन को भगवान के चरणों पर फूलों की भान्ति चढ़ा देता है और कहता है जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो। मैं सब भांति आप का हूं।

निर्गुण का उपासक साधना करता है, नियम संयम व्रत आदि के द्वारा मन और इन्द्रियों को पवित्र करने की चेष्टा करता है, प्राणिमात्र की सेवा में लगा रहकर भगवान् को पाने के प्रयत्न करता है, फिर भी कहीं न कहीं विकार रह ही जाता है। परन्तु साकार के उपासक को विकारों का भय नहीं है।

इन दोनों उपासनाओं के रहते हुए भी संसार अपने ही रास्ते पर चलता है। कुछ ऐसे हैं जो ईश्वर पर सारा भार छोड़कर सुख और ऐश्वर्य चाहते हैं और कुछ ऐसे हैं जो सेवा, लोक-संग्रह आदि का कार्य केवल प्रतिष्ठा और सम्पन्नता पाने के लिये करते हैं। भक्त को भगवान् से कर्म करने की शक्ति मांगनी चाहिये—'मत्कर्म परमो भव' कहकर श्रीकृष्ण ने अपने भक्त को स्पष्ट आदेश दिया है कि तुम

अपने मन और इन्द्रियों को मुझे दो कि मैं उनमें ऐसी शक्ति भर दूं जिससे तुम मेरा काम करने के योग्य बन जाओ।

देखा जाता है कि भक्त कीर्तनकार उपदेशक अथवा प्रचारक अपने आपको प्राय: भगवान् के हाथों में नहीं सौंपते, वे या तो अपने हाथों में रहते हैं या स्वार्थ के हाथों में खेलते हैं। वे अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये धनवानों का आश्रय लेते हैं, चेले और चेलियों की खोज करते हैं और ऐसे स्थानों में रहना पसन्द करते हैं जहां उनके प्रशंसक सहायक और इच्छापूरक अधिक हों। सच्चा भक्त और भगवान् का काम करनेवाला दरिद्री दीन दुखी और पतितों की खोज करता है, उन्हें आश्वासन देता है, उनके साथ बैठकर अपनी महानता से उन्हें भर देता है और उबार लेता है।

श्रीकृष्ण के आदेश 'मत्कर्मपरमो भव—मेरे लिये ही कर्म करनेवाले बनो' और 'मामिच्छाप्तुम्—मुझे पाने की इच्छा करनेवाले बनो' का ठीक-ठीक भाव

वे ही भक्त समझते हैं जो केवल भगवान का आश्रय लेकर कर्म करते हैं।

श्रीकृष्ण ने भक्ति के तीन साधन प्रधान रूप से कहे हैं—

(१) मन और बुद्धि को मेरे हाथों में सौंप दो—

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।'

(२) यदि ऐसा न हो सके तो अभ्यास योग द्वारा मुझे प्राप्त करने की नित्य इच्छा करते रहो—

'अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।'

(३) ऐसा भी न हो सके तो मेरे लिये कर्म करने का प्रयत्न करो, कर्म करते समय मुझे न भूलो—

'मत्कर्म परमोभव।'

(४) यदि ऐसा भी न कर सको तो चित्त का संयम करके भोगों की इच्छा न करते हुए मेरा सहारा लेकर सब कर्मों को सरलता और सादगी से करते चलो—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

गीता का बारहवां अध्याय सम्पूर्ण साधनाओं का
र है। भक्त क्या करे, किस प्रकार व्यवहार करे,
सबका संक्षिप्त और स्पष्ट वर्णन इस अध्याय में
। इस अध्याय में अमृत-धर्म है। उस अमृत का
ान करनेवाले जीवन्मुक्त नित्य भगवान् में निमग्न
हने का आनन्द लेते हैं।

मन और बुद्धि को ईश्वर में रखना भक्ति का आवश्यक साधन है। श्रीकृष्ण ने इस साधन को अत्यन्त सरल कर दिया है। प्रायः भगवान् में चित्त लगाने के लिये सभी नरनारी अभ्यास करते हैं और नित्य नियम संयम जप आदि द्वारा उसे पाने की इच्छा करते रहते हैं। यह प्रारम्भिक और अत्यन्त सरल साधन है, परन्तु निरा अभ्यास करते-करते यह छोटासा जीवन बीत जाता है और हाथ कुछ नहीं आता; इसलिये श्रीकृष्ण ने कहा कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। यदि अभ्यास करने का धैर्य न हो अथवा सांसारिक झंझटों के कारण ईश्वर-प्राप्ति के

लिये अभ्यास करने का अवकाश न मिले तो ज्ञान पूर्वक सब कर्मों को ईश्वर के लिये करना चाहिये।

राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया, पर वह राम के लिये था, दशरथ की भावना से राम प्रकट हुए। कौशल्या बालकों को खिलाती थी, पर भावना भगवान् को खिलाने की थी। माता का प्रेम पुत्र के लिये ऐसा था जैसे भक्त का भगवान के लिये। यहां तक कि कौशल्या श्रीरंगजी का भोग लगाती और बालक राम उसे हंस-हंस कर खाते। माता-पिता और बालकों की हर्ष-ध्वनि से घर भर जाता मानो साक्षात् भगवान् की आरती हो रही हो और भगवान् भक्तों के बीच खड़े स्वीकार कर रहे हों।

गोपियों ने गौयें चराना, दूध निकालना, दही बिलोना, पानी भरना, नहाना धोना तक भगवान् के लिये ही किया। परिणाम यह था कि उनके प्रत्येक कार्य मधुरता और प्रेम से भर जाते थे, कहीं थकान का काम नहीं और कहीं द्वेष या क्लेश का नाम नहीं रहता था।

भगवान् के लिये काम करने से पाप-पुण्य,

लाभ-हानि सब का भार भगवान पर ही रहता है। मनुष्य नित्य निर्विकार और निर्लेप आनन्दमय जीवन जीता है; पर यह सरल नहीं है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के लिये कर्म करने का बीड़ा उठाया तो जीवन भर एक क्षण को भी विश्राम नहीं पाया। गाण्डीव था, अर्जुन के विशाल बाहु थे और सामने लड़ाई का मैदान था। भय चिन्ता जय हार सब का भार अर्जुन पर नहीं था, इन सबकी चिन्ता श्रीकृष्ण ने अपने कन्धों पर ली थी, अर्जुन तो भगवान् का नाम लेता था और युद्ध करता था।

यह ज्ञान सहित भगवान् को पाने का निरन्तर अभ्यास है, जो साधारण अभ्यास से सरल भी है और श्रेष्ठ भी। सरल इसलिये कि निरा अभ्यास रूखा है, उसमें धैर्यवानों का भी धैर्य छूट जाता है और विधि-विधान का ज्ञान न होने से अभ्यास पूर्ण हो या न हो, तरीका ठीक हो या न हो यह भी सन्देह बना रहता है, परन्तु भगवान् के लिये कर्म करने की भावना दृढ़ होजाने पर न भय रहता न चिन्ता, भगवान् की मधुर प्रेममयी भावमयी तेजस्वी मूर्ति

सामने रहती है और उसके प्रकाश में प्रसन्नता से कर्म स्वयं होता जाता है।

कोरे अभ्यास से ज्ञानमय अभ्यास बहुत श्रेष्ठ है। जगद्गुरु श्री शंकराचार्य का अनुभव है—

कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीने सर्वमतेन मुक्तिर्भवति न जन्मशतेन।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते।

क्या गंगासागर तूं न्हाया, दान दिया क्या नियम निभाया।
ज्ञान बिना चाहे कुछ भी कर सौ-सौ जन्म न मुक्ति मिले नर।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते।

ज्ञान बहुत श्रेष्ठ है। ज्ञान पाने का प्रयत्न सभी करते हैं, परन्तु यथार्थ ज्ञान सबको मिलता नहीं। बहुत से सन्तों का यहां तक अनुभव है कि विकारवान् देह जब तक है तब तक पूर्ण ज्ञान दुर्लभ है। इस कठिनाई को भी श्रीकृष्ण ने सरल किया। उन्होंने कहा कि ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान का सब से अच्छा और सरल उपाय श्रीकृष्ण ने यह बताया कि मेरे लिये कर्म न कर सको तो कर्म करने में मेरा सहारा लो। सहारा लेने की बात से यह

ध्वनि निकलती है कि जहां कमजोरी होगी, वहां ईश्वर बल देगा और सारी कमियां पूरी करके व्यवहार में आनेवाली कठिनाइयां सरल करेगा। श्रीकृष्ण ने भरोसा भी ऐसा ही दिया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

हो मत्परायण कर्म सब अर्पण मुझे करते हुए।
भजते सदैव अनन्य मन से ध्यान जो धरते हुए ॥
मुझमें लगाते चित्त उनका शीघ्र कर उद्धार मैं।
इस मृत्युमय संसार से बेड़ा लगाता पार मैं ॥

भगवान् का आश्रय लेकर कर्म करनेवाले ध्यान-योगियों का योग-क्षेम भगवान् स्वयं करते हैं। जगत् के व्यवहार में नित्य देखा जाता है कि राजा और प्रजा अथवा स्वामी और सेवक दोनों मिलकर उन्नति और सफलता के लिये मन और बुद्धि लगा कर काम करते हैं। उनके प्रयत्न जब तक अपने लिये रहते हैं तब तक राज्य या व्यापार की विशेष

उन्नति नहीं होती। जब वे एक दूसरे के
काम करने लगते हैं तो उन्नति के द्वार खुल
और जब दोनों एक दूसरे का सहारा ले लेते हैं
सफलता के भव्य भवन में प्रवेश करते
सहारा लेने में यज्ञ का महाभाव है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ—

'एक दूसरे को तृप्त करते हुए सब कल्याण पा
इस भाव का उदय उसी समय होता है जब पर
एक दूसरे की पूर्ति के लिये कर्म किया जाय। ईश
का सहारा अथवा ईश्वर के योग का सहारा मनु
इसीलिये लेता है कि उसमें जो विकार अथ
त्रुटियां हैं वे दूर हो जायें। ध्यान का अन्तिम लक्ष
यही है कि मनुष्य ध्येय का सहारा लेकर जीवन
उच्च और ऊर्ध्वगामी बनाये। ईश्वर की योग-शक्ति
से इस संसार का पालन-पोषण और संहार हो रह
है। वही शक्ति समस्त विश्व को धारण किये हुए है
उसका ध्यान करना अथवा उसका सहारा लेना उसी
समय सम्भव है जब मानव उससे बेखबर न हो
जाय। ध्यान में ध्येय को खींच लाने की शक्ति है।

जिसे अपनी ओर लाना हो अथवा जिसकी ओर जाना हो उसके ध्यान से 'मिलन' सरल और आनन्द-मय बन जाता है। कर्म का अभ्यास करते-करते जिनका धैर्य छूट जाय अथवा ज्ञान के गहन सागर में जो गोता लगाने की शक्ति अपने में न पायें और अनेकों उलझनों में उलझ जायें उन्हें एक रक्षक और शक्तिशाली सत्ता की सुखमय गोद में पहुंचानेवाला केवल ध्यान ही है।

ध्यान के अनुष्ठान में सिद्धि पाने के लिये ध्येय के अनुकूल कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। मन-चाही सिद्धि उसी समय मिलती है जब ध्यानादि अनुष्ठान के साथ-साथ उसे पाने का पुरुषार्थ सहित सत्य प्रयत्न भी किया जाय।

ध्यान ईश्वर को पाने का श्रेष्ठ साधन है, परन्तु ध्यान में सबका चित्त नहीं जमता। प्रायः ध्यान के समय अपनी कल्पना का संसार सामने आजाता है और ध्येय को ढक लेता है। कर्म का प्रारम्भ करते ही अनेकों कामनायें उठकर कर्ता की शक्ति पर छा जाती हैं और उसे सफलता पाने के योग्य नहीं छोड़तीं।

अतः श्रीकृष्ण ने ध्यान से भी श्रेष्ठ और साथ साथ सरल साधन यह बताया कि चित्त का सं करके कर्म के फल का त्याग करो।

कर्म-फल का त्याग गीता का सप्तम स्वर गीता की प्रथम और अन्तिम साधना यही है। क के विकार और उलझनें दूर करनी हैं तो फल व त्याग करो! सब कुछ करके अपने लिये जो कुछ नह चाहता, उसे मिलता सबसे अधिक है, पर मिलने ः मिलने की आशा-निराशा उसे दुखी उदास या बल हीन नहीं करती। भक्त से भगवान् उसी समय प्रसन्न होते हैं जब भक्त में कोई कामना नहीं रहती। अपने सुख-दुःख, आवश्यकतायें आदि भक्त भगवान् के सामने रख सकता है, पर बदले के लिये यदि वह भक्ति करता है तो चाहे कामनायें पूरी हो जायें, पर शान्ति नहीं मिलती। अतः कर्म में, भक्ति में, ज्ञान में और सम्पूर्ण साधनों में शान्ति के लिये फल का त्याग वही काम करता है जो सृष्टि को शीतलता देने में चन्द्रमा।

जो कर्म होता है उसका फल उसी के साथ उत्पन्न हो जाता है और वह किसी न किसी को मिलता भी अवश्य है, परन्तु यदि सब अपने लिये फल की इच्छा न करके दूसरों को सुख पहुंचाने के लिये कर्म करें तो संसार तृप्त शान्त और सुखी हो।

ध्यान से कर्म के फल का त्याग इसीलिये श्रेष्ठ है कि फल की इच्छा में बंधा हुआ मानव ध्यान के पथ पर आगे नहीं बढ़ पाता। त्याग से, शान्ति मिलने पर, स्थिर मन से किया हुआ ध्यान पुरुष को पुरुषोत्तम से मिलाता है। भगवान् ऐसे भक्त से सब से अधिक प्रेम करते हैं जो कामनाओं को पीछे छोड़कर एकान्त में भगवान् से मिलता है। जीवन में ऐसा एकान्त बनाने के लिये और ईश्वर से अटूट सम्बन्ध जोड़ने के लिये गीता ने मानवमात्र के लिये अमृत धर्म दिया है।

भगवान् बुद्ध ने तप द्वारा जो महाज्ञान पाया उसे उन्होंने तीन रूपों में जनता को दिया—

(१) बुद्धं शरणं गच्छामि।
(२) संघं शरणं गच्छामि।

(३) धर्मं शरणं गच्छामि ॥

इस सनातन ज्ञानको उन्होंने नया रूप दिय और अपने तपसे धर्म का मार्ग खोला। पहले जनता को किसी अवतारी पुरुष—धर्म-पुरुष अथवा नेता की प्रमुखता स्वीकार करके उसकी ओर श्रद्धापूर्वक जाना चाहिये। व्यक्ति सदा रहनेवाला नहीं है, परन्तु उसके सत्य सिद्धान्त अमिट रहते हैं। अतः श्रेय का दूसरा स्तर नेता के बनाये हुए संघ की शरण में जाना है। इन संघों में यदि धर्म नहीं है तो वे संकुचित दलबन्दी करनेवाले और अनुदार रह जाते हैं; अतः राष्ट्र-निर्माण अथवा मुक्ति का तीसरा स्तर है धर्म की शरण में जाना।

धर्म को धारण करने के लिये भगवान् बुद्ध ने वही सन्देश दिया जो श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवं च"

'सब प्राणियों से द्वेष-रहित होकर रहना सबका मित्र बनना और सब पर करुणा करना, इन तीनों से मिलकर जो महारसायन बनता है वही अमृत-

धर्म है और उसमें दिव्य जीवन बनाने की परम सामर्थ्य है।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, उसमें महाशक्ति का उदय होता है और वह संसार में सुख तथा शान्ति का प्रसारक माना जाता है। इस जगत् में जहां सुख है वहां दुःख भी है। देव और दानव साथ-साथ रहते हैं। अद्वेष्टा के साथ द्वेष करनेवाले भी हो सकते हैं। श्रीकृष्ण और ईसा जैसे धर्म-संस्थापकों और प्रेमावतारों से भी द्वेष करनेवाले थे ही, परन्तु वे मनुष्य से देवता इसीलिये बने कि उन्होंने किसी से द्वेष नहीं किया और सबमें एक ही आत्म-तत्त्व का दर्शन किया।

धर्म का एक यह भी पहलू है कि पापी से नहीं पाप से घृणा करनी चाहिये। पापी यदि सन्मार्ग पर आजाय तो महात्मा बन सकता है। शिवाजी परम भक्त थे। एकबार उन्होंने श्रीसमर्थ से कहा कि सबमें भगवान् हैं, मैं किसका वध करूं और किसे हृदय से लगाऊं? समर्थ ने वही उत्तर दिया जो श्रीकृष्ण ने इसी परिस्थिति में अर्जुन को दिया था—'जिसमें

धर्म-स्वरूप परमात्मा नहीं हैं उसके प्राण निकल गये हैं, उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये और फिर जो द्वेषी हैं, नराधम आततायी हैं उनका संहार तो परमेश्वर के हाथ से पहिले ही हो जाता है, निमित्त बन कर कोई धर्मवीर यदि उनका वध करता है तो मारने के लिये नहीं तारने के लिये। अथवा इसलिये कि वे इस कलुषित देह को छोड़कर दूसरा शरीर पायें, जिसमें ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा हो।

द्वेषभाव से किसी को कष्ट पहुंचाना अधर्म है, परन्तु अनासक्त होकर धर्म की स्थापना के लिये यदि दण्ड का प्रयोग न किया जाय तो ईश्वर के उत्पत्ति पालन और प्रलय में से लय का लोप होजाय और यह संसार दुष्टता से भर जाय।

भक्त का दूसरा लक्षण है 'मैत्रः'—वह सबसे मित्रता रखता है। संसार में मित्र-भाव का प्रकाश होने पर कहीं द्वेष और छल-कपट का अन्धकार नहीं रहता। मित्र-मित्र के सुख-दुःख का साथी होता है यदि एक कृष्ण के समान महान् जन बन जाय और दूसरा सुदामा रह जाय तो वह उसे अपने

जैसा ही सुखी बना देता है। यज्ञ के भाव का प्रारम्भ मित्रता से होता है और यज्ञ का फल भी ाणिमात्र से मित्रता है। जिस धर्म-यज्ञ अथवा जप-ाप से हिंसा द्वेष और घृणा को बल मिलता है वे सब आसुरी होते हैं। रावण का धर्म और उसके यज्ञ प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनसे संसार में शत्रु-भाव की वृद्धि हुई थी, अतः राम के तारक हाथों से रावण का संहार हुआ।

मत्रता ऐसी होनी चाहिये जैसी जीव और ब्रह्म की है। दोनों एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, परस्पर आकर्षण हो, श्रेय का भाव हो, दोनों मिलकर सुखी हों और वियोग में एक दूसरे को पाने का प्रयत्न करें। सत्य के आधार पर जहाँ ऐसी मित्रता का विशाल मन्दिर खड़ा किया जाता है उसमें करुणा के अनेकों द्वार और खिड़कियाँ खुले रहते हैं। सब पर करुणा बरसानेवाला भगवान् की पूर्ण कृपा का अधिकारी होता है।

द्वेष-रहित मित्र और करुणावान् में जब ममता और अहंकार के दोष फूट निकलते हैं, तब गुणी

चतुर और सम्पन्न होने पर भी दशशीश की भांति उसके अहंकार के मस्तक धूल में मिल जाते हैं। सबका मित्र होकर सब पर करुणा करके भी किसी में ममता न हो और अपने बड़प्पन का अभिमान न हो तब मनुष्य अमृत से छका रहता है।

ऐसा अमृत पीनेवाले सुख और दुःख में एक-रस रहते हैं तथा छोटी-छोटी बातों पर उद्वेग और क्रोध से नहीं भर जाते। उनमें क्षमा करने की महान् शक्ति और सामर्थ्य होती है। यह सामर्थ्य किसी ममता और अहंकार से नहीं, वरन् शुद्ध भगवद्भक्ति से प्रेरणा पाती है।

भक्ति और अहंकार दोनों कभी साथ नहीं रहते। भक्त में अहंकार नहीं होता और अहंकारी में भक्ति नहीं होती। परमेश्वर का प्यार उसे मिलता है जिसमें अहंकार नहीं रह जाता।

सबुहिं मानप्रद आप अमानी।
भरत प्राण सम ते मम प्रानी॥

द्वेष, घृणा, दुःख सबका मूल अहंकार है। भक्ति की गंगा में गोता लगाते ही विकाररूपी मैल

धुल जाते हैं। अहंकार, आत्म-सम्मान और भगवत्-प्रेम में परिणत हो जाता है। तितिक्षा क्षमा सन्तोष और निरन्तर कर्म करने की भावना भक्त में भर जाती है। संयम और दृढ़ निश्चय से जो कर्म करता है वही भक्त है। भक्त का मन और बुद्धि अपने नहीं भगवान् के होते हैं। इसीलिये वह भगवान् को प्रिय होता है और उसके कर्म मानुषी नहीं दैवी होते हैं।

भक्त से किसी का अनहित नहीं होता, किसी को उससे क्लेश नहीं होता, उसका अपना स्वभाव भी ऐसा बन जाता है कि उसे किसी से दुःख या क्लेश नहीं होता। हर्ष क्रोध भय और विषाद भक्त में नहीं रहते।

भक्त दुःखहारी हरि को छोड़कर किसी के सहारे की इच्छा नहीं करता। संसार का सहारा लेकर दुःख मिटते नहीं, यह जानकर भक्त व्यथाओं से घबराता नहीं। पवित्रता और सावधानी से निष्पक्ष होकर वह प्रगति करता है। निश्चित कर्मों को छोड़कर नित्य नये-नये कर्मों का आरम्भ नहीं करता। जो आरम्भ करता है उसे अन्त तक निभाता है।

ऐसी भक्ति में शोक और आकांक्षायें नहीं रहतीं। आस्तिक कभी चिन्ता नहीं करता। उसे अपने भर्ता और पालन कर्ता पर पूरा विश्वास होता है। उसके संकेत से वह शुभ और अशुभ फल की परवाह न करके अपने कर्म में दृढ़बुद्धि होकर लगा रहता है।

भक्ति को अमृत-धर्म कहा है। यह धर्म सब धर्मों से ऊपर है, इसमें कहीं सम्प्रदाय नहीं, दल-बन्दी नहीं, पक्षपात अथवा अन्याय का इसमें कोई स्थान नहीं। मनुष्यता की प्रतिष्ठा और नर में नारायण का दर्शन इस धर्म का आधार है। युग बदल जांय, इतिहासों के पन्ने काले-पीले हो जांय, पर यह धर्म सदा एकरस और सनातन रहता है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने इसे अमृत-धर्म कहा है। इस धर्म का बोध पुस्तकों से नहीं आचरण से होता है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

जो मत्परायण इस अमृतमय धर्म में अनुरक्त हैं।
वे नित्य श्रद्धावान् जन मेरे परमप्रिय भक्त हैं॥

★

१३. जीवन-विज्ञान

सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

माता पृथ्वी सोने के फूल उगलती है, शूरवीर, विद्याव्रती और चतुरता से सेवन करनेवाले उन फूलों को चुनते हैं ।

भारत के एक शक्तिशाली किसान ने एक वार कहा था कि मुझ में समस्त संसार को अन्न देने की सामर्थ्य है । मां वसुन्धरा कें सन्मुख जब मैं करबद्ध और कटिबद्ध होकर खड़ा होता हूँ, तब वह सोने के फूल देती है ।

उसी समय एक सन्त ने कहा—'माता पृथ्वी पर खड़ा होकर मैं देखता हूँ कि मेरे सामने सोने की खेती लहरा रही है । मां का वरदान पाकर

मेरा शरीर एक खेत बन गया है, इस में विवेक के हल से जोतता हूं, वासना और विकारों के कूड़े-करकट को निकाल फैंकता हूँ, सत्य सेवा प्रेम और परमार्थ के जल से सिंचन करता हूं, ऐश्वर्य एवं मुक्ति की खेती काटता हूं।

यह शरीर क्षेत्र है, मनीषियों ने इसे मुक्ति का द्वार कहा है। इसे जाननेवाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्रज्ञ भगवान् हैं। वे सारे शरीरों में रहते हैं, उनका प्रभाव अनन्त है, उनके जन्म कर्म दिव्य हैं।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जान लेना सम्यक् ज्ञान है।

आकाश वायु जल अग्नि और पृथ्वी अर्थात् पंच महाभूत, अहं, बुद्धि, प्रकृति, पांचों ज्ञानेन्द्रियां, पांचों कर्मेन्द्रियां, एक मन, पांचों इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध) इच्छा, द्वेष सुख, दुःख, देह और इन्द्रियों का समूह, चेतन शक्ति और धैर्य इन सब के समुदाय को विकारवान् क्षेत्र कहते हैं। शरीर या क्षेत्र को विकारवान् इसलिये कहा गया है कि उसमें घटने-बढ़ने और बदलने के दोष हैं।

शरीर के विकारों को जानना चाहिये। विकारों को देखना और जानना ज्ञान है और उन्हें दूर कर देना कला है। शरीर में विकारों को पालना उन्हें गले लगाये रहना और उनके भरण-पोषण में लगे रहना, शरीर और जीवन का दुरुपयोग करना है। मनुष्य की महत्ता इसमें है कि वह दोषों को देखकर उन्हें गुणों में बदल दे और शरीर में घिरे हुए आत्मा को दोषों से मुक्त कर दे।

जीवन के साथ दुःख रोग बुढ़ापा और मृत्यु लगे हैं। अभिमान, दम्भ, इन्द्रिय-विषय, आसक्ति आदि दोष इन दुःखों को अधिकाधिक बढ़ाते हैं। जो अभिमान आदि विकारों को छोड़ कर शरीर में रहनेवाले आत्मा का पोषण करते हैं उनके दुःख कटते जाते हैं, अतः मन को, विचारों को और सम्पूर्ण इन्द्रियों को ऐसे अभ्यास में डालना चाहिये जिससे प्रत्येक कर्म आत्मा की सेवा के लिये हो, यही ज्ञान है।

ज्ञान से आत्मा अथवा परमात्मा का दर्शन होता है। मनुष्य शरीर के पोषण में लगा रहता

है, उसे सजाता है, परन्तु जिससे शरीर है उ
आत्मा का यदि हनन करता है तो शरीर में प्रय
करने पर भी सुन्दरता स्वास्थ्य और स्वच्छता न
आती।

शरीर मिट्टी का ढेर है, उसमें जो कुछ सुकुमारत
चैतन्यता और गति है वह सब उसमें प्रकाशमा
आत्मा की है।

महाभारत का युद्ध जीत लेने पर अर्जुन ने
श्रीकृष्ण को नमस्कार किया और उनसे रथ से उतरने
की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण अपने प्रिय पार्थ के
पुरुषार्थ से प्रसन्न थे। उन्होंने कहा—"अर्जुन
पहिले तुम उतर जाओ।" ज्ञानी गुरु और वयोवृद्धों
के पीछे चलना नम्रता और विकास का मार्ग है,
परन्तु गुरुजनों की आज्ञा के पालन में जो श्रद्धा है,
वह जीवन को विलक्षण साहस और आश्वासन से
भर देती है। अर्जुन रथ से उतर पड़े। उनके अलग
खड़े हो जाने पर श्रीकृष्ण रथ से उतरे। श्रीकृष्ण
के उतरते ही रथ में आग लग गयी और वह जल
कर राख का ढेर हो गया।

आश्चर्यचकित अर्जुन ने कौतूहल भरी आंखों से श्रीकृष्ण की ओर देखा। श्रीकृष्ण ने केवल इतना कहा—"इस रथ पर अनेकों वायव्य और आग्नेय बाण लग चुके हैं, यह बिधकर जर्जरित हो चुका था, अग्नि की लपटें इसे घेरे हुए थीं, परन्तु मैं अपने विज्ञान और योग-शक्ति से इसे जलने और गिरने से बचाये हुए था। यदि मैं पहिले उतर जाता तो तुम भी इस रथ के साथ ही भस्म हो जाते।"

मनुष्य की देह पर नित्य नये आक्रमण और प्रहार होते हैं, काम का बाण इसे जलाता है, क्रोध सुखाता है, मोह काटता रहता है, लोभ डुबाता है, परन्तु देह के अन्दर जो आत्मा है वह जलने, सूखने, कटने और गलनेवाला नहीं है। जब तक वह आत्मारूप परमात्मा है तब तक मिट्टी का तन, मिट्टी का मन जीवन का परिचय देता और दमकता है। आत्मा के निकलते ही तन की मट्टी हो जाती है। अतः शरीर की साधना, भरण-पोषण आत्मा की साधना में है।

आत्मा को भूल कर शरीर-पालन के लिये कर्म करनेवाला मनुष्य दुखी और अशान्त रहता है। जिसने शरीर को ही सब कुछ मान लिया है, भोग-विलास और इन्द्रिय-सुखों के लिये हाय-हाय करता और जोड़ता है, रात-दिन चाहों और चिन्ताओं में जलता है, वह जीवन को व्यर्थ खो देता है। इसीलिये गीता क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ = शरीर और आत्मा को जान कर कर्म करने की बात कहती है।

मनुष्य देह नहीं, आत्मा है। वेदान्त के ज्ञान, त्याग और वैराग्य का दृढ़ आधार यही भाव है। 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'तत्त्वमसि' का बोध उसी समय होता है जब ऊपर के तन की सुन्दरता में से आत्मा के सौन्दर्य का दर्शन होता है। 'शिवोऽहं' का बोध कर्म को पवित्र कर देता है और मन को आनन्द से भर देता है।

'मैं अविकारी निष्कलंक महान् आत्मा हूँ—ऐसा आत्मा जो सर्वत्र है। मेरे हाथ, पैर, सिर, नेत्र और मुख कहां नहीं हैं? सब दिशायें मेरे कान हैं, मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। इन्द्रियां मुझसे प्रकाश पाती हैं,

मैं इन्द्रियों का सहारा नहीं लेता, उनसे कर्म कराता हूँ, उनमें आसक्ति नहीं रखता। सब प्राणियों में भीतर बाहर दूर पास मैं हूँ। मैं ज्योतियों की ज्योति हूं, अन्धेरे से दूर हूँ, अमृतपुत्र हूँ। रोग जरा और मृत्यु मुझे छूने में असमर्थ हैं।'

ऐसा संकल्प करनेवाला आत्मा को जानता है। देह में स्थित आत्मा का ऐसा विचार मनुष्य को साधारण कर्मों से दिव्य कर्मों की ओर ले जाता है, पशु-जीवन से मानव-जीवन की ओर बढ़ानेवाला आत्मभाव है। चरित्र और नैतिकता इसी आत्मभाव में सुरक्षित हैं। आत्मा में टिक जाने पर कहीं भय और संकट की सम्भावना नहीं रहती। नित्य नवीन चेतना, उत्साह और साहस से कर्म को भरनेवाला आत्मा है। आत्मा का ज्ञान पुरुष प्रकृति और कर्म के बोध से होता है।

पुरुष प्रकृति के अनुसार कर्म करता और भोग भोगता है। अच्छा, बुरा करनेवाला वह स्वयं है। फिर भी कहा यह जाता है कि जो कुछ करता है सो

परमेश्वर करता है। गीता इस उलझन को सरस और सरलता से सुलझाती है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

द्रष्टानुमन्ता ईश भर्ता और भोक्ता सर्वदा।
इस देह में वह पर पुरुष परमात्म कहलाता सदा॥

इस शरीर में बसा हुआ परमात्मा उपद्रष्टा होकर शरीर की सब चेष्टाओं, कर्मों और प्रगतियों को बहुत पास से देखता है। चन्द्र की चान्दनी में सत्संग भी होता है, जूआ और व्यभिचार भी! चन्द्रमा सत्संग करनेवाले पर भी उतना ही अमृत बरसाता है जितना जुआरी और व्यभिचारी पर। इसी प्रकार ईश्वर प्राणिमात्र को समदृष्टि से देखता है, भले और बुरे सब पर अपनी कृपा बरसाता है। परमेश्वर की करुणा गंगा की भांति सब के लिये बहती है, जब जो चाहे उसमें से भरले और प्यास बुझाले। वह स्वयं न किसी के पाप का साथी है और न पुण्य का, परन्तु जब जीव की दर्शन-दृष्टि खुलती है तब वह भोगमय जीवन से ऊब कर नैतिकता

की ओर चलता है। प्रेम और सेवा अथवा मैत्री करुणा और मुदिता के भाव उसमें बादलों की भांति उमड़ते हैं और जब कहीं उच्च सत्संग के पर्वत से टकरा कर बरस पड़ते हैं तो स्वयं हल्के हो जाते हैं और संसार को भी शीतलता तथा शान्ति से भर देते हैं।

नैतिक जीवन की यह भूमिका है। मनुष्य के विचार और संकल्प शुभ होने से वह त्याग और सेवामय जीवन जीने की अभिलाषा करता है। किसी पथ-प्रदर्शक को खोजता है। जिज्ञासु को संसार की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कार्य रास्ता दिखाते हैं। कुछ जानने की इच्छा होते ही जीवन की प्रत्येक घटना पाठ पढ़ाने लगती है, ऐसी स्थिति में वह सर्वेश्वर परमेश्वर जो प्रत्येक समय किसी न किसी रूप में मनुष्य के आस-पास रहता है, केवल द्रष्टा न रह कर अनुमन्ता बन जाता है। आत्मा में से वह बोलता है, जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ द्वारा प्रेरणा देता है और उचित तथा श्रेयस्कर पथ पर जीव को चला देता है।

भोगमय जीवन से निकल कर साधनामय जीवन के पथ पर चलते ही जीव "अनुमन्ता" को पा लेता है। मित्र, स्वामी, सेवक, गुरु किसी भी रूप में परमेश्वर उसे शुभ की ओर चलने की अनुमति देता है और वह चलता है। इस श्रेयस्कर मार्ग पर चलनेवाले का जीवन उच्चतम और महान् बनता जाता है, फिर भी इस दुःख और कठिनाइयों से भरे संसार में बहुत कुछ करते-करते भी जब कुछ नहीं होता तो वह अपने अनुमन्ता की ओर कातर दृष्टि से देखता है, उसका जीवन प्रार्थनामय बन जाता है। वह द्रौपदी और गज की भांति संकट में धीरज-धरैया का बार-बार स्मरण करता है। वह परमात्मा जो आत्मा होकर प्रत्येक प्राणी के अन्तर में रहता है, प्रकट होता है और भक्त की तत्काल सहायता करता है। यही भर्ता का भाव है।

भोगमय जीवन से ऊँचा साधनामय अथवा नैतिक जीवन और साधनामय जीवन से आगे दैवी जीवन है। भोगमय जीवन में जो परमात्मा खड़ा-खड़ा देख रहा था, वह साधनामय जीवन में शुभ

सम्मति देनेवाला 'अनुमन्ता' हुआ और वही दैवी जीवन में "भर्ता" होकर अपने अभिन्न आत्मा के लिये सब कुछ करता है। ऐसी स्थिति में पहुंचे हुए पुरुष का योग-क्षेम पुरुषोत्तम करते हैं। भक्ति का यही भाव है। जीव आर्त (दुखी) अर्थार्थी (कामना-प्रिय) जिज्ञासु अथवा ज्ञानी होकर जब जिस भाव से भगवान् को पुकारता है तब भगवान् उसी भाव से उसके मनोरथ पूरे करते हैं। यह उतना ही सत्य है जितना प्रतिदिन सूर्य का निकलना।

दैवी जीवन में राम-कृपा से कुछ दुर्लभ नहीं रहता। सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण होती हैं। इस पूर्णता में एक बार फिर अग्नि-परीक्षा का अवसर आता है। तप, सेवा और साधना से प्राप्त ऐश्वर्यों को जो अपना समझ कर भोगता है, वह ऊंचा चढ़कर नीचे गिरता है, परन्तु परमेश्वर की कृपा से प्राप्त विभूतियों को जो उसी के अर्पण कर देता है, वह परमेश्वर से भिन्न नहीं रहता। जीवन की यह चौथी और उच्चतम स्थिति है। इसमें जीव ब्रह्मरूप होकर भोगता है। भोक्ता का यही महाभाव है। जो परमेश्वर से प्राप्त

को परमेश्वर के ही अर्पण कर देता है, उसका कभी पतन नहीं होता, वह महेश्वर में मिल जाता है।

पुरुष का जीवन इन चारों स्तरों को पार करके महेश्वर—महादेव अथवा शिवरूप बनता है।

पुरुष और प्रकृति मिलकर संसार के गुणों को भोगते हैं। इन भोगों से छूटनेवाला प्रकृति में रह कर क्रमशः जीवन का विकास करता हुआ परमेश्वर तक पहुँचता है और उसी का रूप होकर उसमें मिल जाता है।

जीवन का विकास क्रमशः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान से 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' 'भर्ता' और 'भोक्ता' के ज्ञान तक पहुंचते-पहुंचते पूर्ण होता है।

इस संसार में पूर्णता पाने के लिये कुछ ध्यानी ऐसे हैं जो अपने पवित्र मन द्वारा अपने में ही आत्मा का दर्शन करते हैं, वे बाहिरी जगत् से प्रभावित और आकर्षित न होकर अन्तःप्रेरणा से कार्य करते हैं, उनका ध्यान अभंग रहता है।

कुछ ज्ञानी ज्ञान द्वारा आत्मा का दर्शन करते हैं। ज्ञानाग्नि में पापों-तापों और विकारों को भस्म

रके वे जग-जीव के हित में जीवन लगा देते हैं, र्वत्र आत्मभाव रख कर वे तदात्म हो जाते हैं। नके सन्मुख सर्वत्र ब्रह्म रहता है।

कुछ कर्मयोगी कर्म द्वारा आत्मा का दर्शन करते । कर्म में चित्त-शुद्धि की महान् शक्ति है। कर्म । जीवन है, कर्म से भगवान् की पूजा होती है. र्म से क्या सुलभ नहीं है। ब्रह्मार्पण बुद्धि से र्म करनेवाले आत्मवान् नर-नारी आत्मरूप हो ाते हैं।

जिनके पास ज्ञान ध्यान और कर्म तीनों में से क भी नहीं वे दूसरों से सुन कर मनन और नदिध्यासन द्वारा परमात्मा को पा सकते हैं। रमात्मा किसी से दूर नहीं—अलग नहीं, यही ीवन का विज्ञान है। उसे पा लेना जीवन की फलता है और उसे प्राप्त करके उसमें टिके रह कर र्म करना स्वराज्य का उपभोग अथवा जीवन-मुक्ति ा सुख है।

१४. प्रकाश और अंधेरा

सुख में बाधा डालनेवाले अज्ञान विकार और भोग हैं। जो विकारों से छूट कर भोगों को ठुकराते और ज्ञान का आश्रय लेते हैं वे भगवान् के गुणों को प्राप्त करते हैं। तेरहवें अध्याय में जो ज्ञान बताया गया है उसका सार यही है कि सद्गुण ही ज्ञान हैं। ज्ञान की धारा में जो गोता लगाता है अथवा उसमें से आचमन करता है. वह निस्सन्देह दुःखों से छूटता है।

जीव को दुःख-सुख में बांधनेवाले इस संसार में तीन गुण हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। तीनों मिलकर ही माया का रूप बनाते हैं। इस माया-जाल से छूटनेवाला सदा सुखी रहता है।

त्रिगुणात्मिका माया का ज्ञान तीनों गुणों के

न से स्वयं हो जाता है।

सत्त्व गुण में निर्मलता और प्रकाश रहता है। ह जीव को ज्ञान और सुख में बांधता है। देह सम्पूर्ण इन्द्रियों में ज्ञान का प्रकाश हो, नित्य तन उत्साह, पवित्र विचार और सावधानी हो तब मझना चाहिये कि सत्त्वगुण है।

सत्कृतों से सात्त्विकता का विकास होता है। र्मलता सत्त्व का स्वभाव है. ज्ञान उसका फल है।

रजोगुण का स्वरूप रागमय है। अपनी कमियों ौर विकारों को जानकर भी उनसे लिपटे रहना ाग है। रागमय रजोगुण से आसक्ति और तृष्णा ढ़ती है और जीव बन्धन में पड़ जाता है। जोगुण मनुष्य को रात-दिन की हाय-हाय और नन्यानवे के फेर में डालनेवाला है। तृष्णा प्रशान्ति और लोभ से जब कर्म में प्रवृत्ति हो तो मझना चाहिये कि रजोगुण है।

लोभ और अशान्ति से रजोगुण बढ़ता है, रजोगुण का फल दुःख है।

तमोगुण में मोह आलस्य नींद और प्रमाद होते हैं। तमोगुण की उत्पत्ति अज्ञान से है। अन्तःकरण में जब कहीं प्रकाश नहीं रहता, विचारों में शिथिलता मलिनता और उदासी आ जाती है कर्म करने की इच्छा नहीं रहती, तन-मन में घुन लग जाता है, तब जानना चाहिये कि तमोगुण है।

तामसी गुण में फंसनेवाले का घोर पतन होता है। संसार में उसके लिये कहीं ठिकाना नहीं रहता।

रजोगुण और तमोगुण जब दब जाते हैं तो सत्त्वगुण उभरता है। सत्त्वगुण और तमोगुण के दबने पर रजोगुण बढ़ता है और रजोगुण तथा सत्त्वगुण के दबने पर तमोगुण जीव पर अधिकार कर लेता है। संसार में जो कुछ हो रहा है वह सब इन्हीं तीनों गुणों के कारण है। जैसे गुण होते हैं वैसा मनुष्य होता है और उसी प्रकारका सुखमय या दुःखमय उसका संसार बनता है।

गीता संसार से पार जाने के लिये और सम्पूर्ण दुःखों से छूटकर अमृत होने के लिये तीनों गुणों से

ऊपर उठने का आदेश देती है।

दुःख और अज्ञान का सब से बड़ा कारण तमोगुण है। आलस्य और प्रमाद जीव के सबसे बड़े शत्रु हैं। जीवन परम पुरुषार्थ के लिये मिला है, उसे जो आलस्य और नींद में खो देता है वह अपने पाप से अपना संसार बिगाड़ लेता है।

आलस्य और प्रमाद को किसी भी समय पास नहीं आने देना चाहिये। जीवन जितना सुखी और विलासमय बनता है, आलस्य उतना ही अधिक बढ़ता जाता है। दुःखमय या सुन्दर शब्दों में कहें तो तपमय जीवन बिताना आलस्य दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है। आलस्य को जीतनेवाला सदा सावधान रहता है। उसकी बुद्धि अचूक और तीव्र होती है। वह कभी दुखी नहीं होता। इसके विपरीत जो आलस्य को पालते हैं वे ज्ञानी ध्यानी संयमी दाता शूर कोई भी हों अपने पतन को निमन्त्रण देते हैं।

तपस्वी जीवन जीना आलस्य को निर्मूल करने का एक उपाय है। दूसरा उपाय है उत्तरदायित्त्व

को समझकर अपने प्रत्येक कर्म को महत्त्व देना। छटे अध्याय में संयम की चर्चा की गयी है। संयमी पुरुष प्रत्येक कर्म को भगवान् की पूजा समझकर करता है। पूजा में थोड़ी-सी भी असावधानी, भूल-चूक अथवा अश्रद्धा होने से जैसे भगवान् नहीं मिलते उसी प्रकार कर्म में चूक असावधानी और अश्रद्धा होने से सफलता नहीं मिलती। मन मारकर कर्म करने से आलस्य बढ़ता है। उत्साहपूर्वक कर्म में लगने से आलस्य भागता है। जहां उत्साह है, वहां भूख नींद प्रमाद सब पर संयम हो जाता है; महाआलसी रात-दिन सोनेवाला कुम्भकर्ण भी उत्साह पाकर जागा और युद्ध-कर्म में लग गया था।

तमोगुण के साथियों में आलस्य प्रमुख है और नींद उसकी पतिव्रता धर्मपत्नी है। नींद कभी आलस्य का साथ नहीं छोड़ती। जहां निद्रादेवी का प्रभाव रहता है वहां और कुछ नहीं रह जाता।

यद्यपि ताजगी और विश्रान्ति के लिये नींद एक साधन है, परन्तु रात-दिन पड़े रहना, ऊंघते रहना, अथवा अधिक सोना; ज्ञान, योग और उन्नति का

घातक है। गाढ़ी नींद या योगनिद्रा घड़ी भर की भी अच्छी। नींद को जीतने का सर्वश्रेष्ठ उपाय निश्चित समय के लिये नियम से गहरी नींद सो लेना है।

गहरी नींद लानेके लिये हल्का भोजन और अधिक से अधिक परिश्रम करना चाहिये। आचार्य विनोवा ने लिखा है—

"सेवा करके थके हुए साधु-सन्तों की नींद एक योग ही है।"

सेवा और परिश्रम से तमोगुण की चिर साथिन नींद भी पवित्र हो जाती है।

तमोगुण का मित्र और साथी रजोगुण है। तमोगुणी जब जागता है तो हाय-हाय में लग जाता है। रावण रजोगुण का रूप था। किसी भी प्रकार छल बल क्रूरता से वह भौतिक सुखों की वृद्धि चाहता था। उपासना और ज्ञान को भी उसने रजोगुणी वृद्धि का साधन बनाया, इसीलिये उस महाज्ञानी का दुखद अन्त हुआ।

रजोगुण जीव को रिझाने में निपुण है। वह नित्य नवीन रहता है। रजोगुण जब मन में समा जाता है तो मन इतना फैलता है कि ऊंचे-ऊंचे पहाड़ और अगाध समुद्र भी छोटे हो जाते हैं।

श्री सन्त ज्ञानेश्वर ने रजोगुण का काव्यमय निरूपण इस प्रकार किया है—

'आंधी आकर जैसे अनेक प्रकार की वस्तुयें ऊपर ले उड़ती है वैसे ही इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने की मुक्तता हो जाती है। परदारा-गमन इत्यादि करता हुआ वह मनुष्य उसे विपरीत आचरण नहीं समझता और बकरी के मुँह के समान इन्द्रियां को चाहे जहां चरने देता है। उसका लोभ यहां तक मनमाना आचरण करता है कि जो वस्तु उसकी घात में न आसके वही उससे बचती है।...इस लोक की और परलोक की वासनायें उसके लिये काफी नहीं होतीं।

बैल को चाहे किसी श्रीमान् की बरात में ले जाओ, तथापि उसकी घास नहीं छूटती, वैसे ही रजोगुणी मनुष्य को सहवास का लाभ होता है।

उसे रात दिन व्यापार से विश्रान्ति नहीं मिलती।'

रजोगुण का विस्तार तृष्णा और आसक्ति से
ता है। चित्तवृत्तियों के निरोध से रजोगुण
ाथिल पड़ जाता है, मनकी चंचलता का जैसे-
से अन्त होता है वैसे-वैसे रजोगुण दवता जाता
। विवेक और वैराग्य के बल से मनुष्य रजोगुण
ार विजय पाता है।

रजोगुण पर विजय पाने का एक उपाय—
'त्याग से भोग भोगना है।' ऐश्वर्य और वैभव-
सम्पन्न व्यक्ति जब संयम के साथ रहते हैं, व्रतों को
नहीं छोड़ते, असत्य हिंसा आदि के त्याग का
अभ्यास करते हैं, तब वैराग्य के परिपक्व हो जाने
से रजोगुण विषहीन हो जाता है और कर्म करके
भी मनुष्य को उसका दोष नहीं छूता, यही गीता
का अनासक्त कर्म है। अनासक्त कर्म सत्त्वगुण की
प्रतिष्ठा करता है।

सत्त्वगुण सुगन्धित फूलों की भांति भीतर-बाहर
अपनी सुगन्धि फैला देता है। सत्त्वगुण के स्पर्श
से तन और इन्द्रियां सोने की बन जाती हैं।

आंखों के सामने प्रकाश ही प्रकाश रहता है।

सत्त्वगुण में सत्य की सुन्दरता शिवरूप में प्रकट होती है। इन्द्रियां उस सुन्दर दर्शन से पवित्रता और शक्ति प्राप्त करके सदा कर्म तत्पर रहती हैं शिवरूप होकर सांसारिक विषयों में जब इन्द्रियां विचरती हैं तो भोग-भोग कर भी वे निर्लेप और निर्विकार रहती हैं। सत्त्वगुण में बुद्धि इन्द्रियों का साथ नहीं छोड़ती, जड़ में भी चैतन्यता और सावधानी प्रकट हो जाती है।

गीता इस प्रकाशमय सत्त्वगुण से भी आगे बढ़ने का आदेश देती है। मनुष्य किसी प्रकाश के सहारे न जिये, वह स्वयं प्रकाशमय हो जाये; किसी की चेतना से चैतन्यता न ले वह स्वयं चैतन्यरूप होकर सृष्टि को सजीव कर दे, तभी गीता का कर्मयोग पूर्ण होता है। इस कर्मयोग में तमोगुण और रजोगुण का कहीं स्थान नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि सत्त्वगुण का भी बन्धन नहीं है। ईंधन जैसे जलकर अग्नि में मिल जाता है और अग्नि अपने तत्त्व में समा जाती है, इसी प्रकार मन

की चंचलता और विकार सत्त्वगुण में मिल जाते हैं और सत्त्वगुण अपने परम-तत्त्व में समा जाता है। छोटे-छोटे और पृथक्-पृथक् प्रकाशों से महाप्रकाश नहीं होता। ज्योतिर्मय वही है जिसमें सारी ज्योतियां अनेकत्त्व छोड़कर एक में मिल जाती हैं। मनुष्य की पूर्णता अपने सत्त्वगुण को भी सत्य-रूप परमात्मा में मिला देने से होती है।

सत्त्वगुण का अभिमान प्रायः मनुष्य को बन्धन में बांधे रहता है और उन्नति के प्रयत्न करने पर भी उसे जीवन-मुक्त नहीं होने देता। जीवन-मुक्ति के लिये सत्त्वगुण का बन्धन भी काटना पड़ता है।

धन बल विद्या ज्ञान अथवा ऐश्वर्य और त्याग होने पर उसका अभिमान जीवन के साथ जुड़ जाता है और मनुष्य को परम शान्ति में नहीं टिकने देता। एक राजऋषि ने अपना सर्वस्व त्याग दिया था, परन्तु उसे शान्ति नहीं मिली। किसी ने कहा कि एक लंगोटी जो अभी रह गयी है उसे भी छोड़ दो। उसने वह भी छोड़ दी फिर भी शान्ति नहीं मिली। एक दिन एक महात्मा ने कहा कि जिसके

द्वारा तुम सबका त्याग कर रहे हो उसे भी छो
तो शान्ति मिल जाय—

येन त्यजसि तं त्यज ।

उस राज-ऋषि ने त्याग का अहंकार छोड़
उसी समय परमशान्ति मूर्तिमती हो प्रकट हो ग

सत्त्वगुण का अभिमान और आसक्ति पुरु
पुरुषोत्तम तक नहीं पहुंचने देता । जीव और
के बीच में अभिमान रहता है; यह हटा कि
मिले ।

इस अभिमान को मिटाने का उपाय है सत्त्व
को प्रत्येक इन्द्रियों के कर्म और स्वभाव में मि
देना । जब स्वभाव से कर्म होने लगते हैं तो आस
या अभिमान नहीं रहता । अभिमान उसी कर्म
होता है जिसे हम असाधारण समझते हैं । ए
दिन सत्य बोलने से यह अभिमान हो सकता है ि
मैंने सत्य बोला । दया सेवा अहिंसा जब कभी-कभ
आचरण में आते हैं तो उनका अभिमान जागृ
रहता है, परन्तु जब भूख प्यास की तरह वे गुण
स्वभाव के अंग बन जाते हैं तब कोई विशेषता प्रतीत

नहीं होती और अभिमान जल जाता है।

अन्धों में काणा मान कर सकता है, परन्तु जहां सब आंखोंवाले हैं वहां देखना एक स्वाभाविक गुण है। अतः सत्त्वगुण जब जीवन का अंग होकर प्रत्येक कर्म में प्रकट होने लगता है और सहज-स्वभाव बन जाता है, तब वह पच जाता है, उसमें आसक्ति एवं अभिमान शेष नहीं रहता। सत्त्वगुण पर विजय पानेवाला गुणातीत स्थितप्रज्ञ अथवा जीवन-मुक्त कहलाता है। इस विजय में परमेश्वर का सहारा अद्‌भुत कार्य करता है। चित्त में दूसरा विषय न रख कर जो विश्वनाथ की सेवा में लगा रहता है वही गुणातीत है। सूर्य और उसकी किरणें जैसे अलग-अलग नहीं हैं वैसे ही परमात्मा और गुणातीत में भेद नहीं है।

जीवन का यह विज्ञान प्रकृति के तीनों गुणों का विश्लेषण करता है। प्रकृति माया अथवा संसार में कौन-कौन से विकार हैं उन्हें कैसे जीता जाय, इसका उत्तर संक्षेप में भगवान् श्रीकृष्ण ने इस चौदहवें अध्याय में दिया है। सत्त्वगुण रजोगुण

और तमोगुण इन तीनों से परे मनुष्य जहां पहुंचता है वहीं शाश्वतपुरुष धर्म के विग्रहवान् देवता का परमस्थान है। उस पवित्र लोक में सुख-दुःख मान-अपमान, आशा-निराशा के पहाड़ और गड़हे नहीं हैं। वहां ऐसा समतल है जिस पर धैर्य में ठोकर नहीं लगती, विवेक इन्द्रियों के साथ खेलता है, भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं रहता। पुरुष को अमृतरूप पुरुषोत्तम का ज्ञान होता है और उसके साथ सहवास करके वह उसी का पद प्राप्त करता है। सच्चे हृदय से जो पुरुष पुरुषोत्तम को जानने का प्रयत्न करता है उसके सामने प्रकृति और परमेश्वर के सब रहस्य खुल जाते हैं।

१५. पुरुषोत्तम योग

यह संसार आश्चर्य-जनक वृक्ष है। इस की जड़ ऊपर है और शाखायें नीचे हैं। ऊर्ध्वमूल कह कर गीता ने संसार का सम्बन्ध परमेश्वर से अखण्ड कर दिया है। संसार की उत्पत्ति उसी परमतत्त्व से है इसकी विशालता विस्तार नश्वरता और अव्यय भाव सबका बोध परमेश्वर को जान लेने से हो जाता है।

संसार को अपनी-अपनी दृष्टि और अनुभव से कोई नश्वर देखता है और कोई इसे अव्यय कहता है।

उपनिषदों ने इसे सनातन अश्वत्थ कहा है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।

कठ — ३।१

यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है, इसमें परिवर्तन होते रहते हैं और यह नित्य नूतन बना रहता है। इसके मूल में सर्वेश्वर परमेश्वर है। उससे चल कर यह वृक्ष नीचे की ओर फैलता है। परमेश्वर से इसका सम्बन्ध होने के कारण यह ज्योतिःस्वरूप है, यही ब्रह्म और अमृत कहा जाता है। सारे लोक इसी के आश्रित रहते हैं, इसे कोई लांघ नहीं सकता।

सूर्य जैसे ऊपर से अपनी किरणें नीचे की ओर फैंकता है, उसी प्रकार संसार परमेश्वर की शक्ति से प्रकाशमान है।

विरक्त ज्ञानी जन संसार को मिथ्या और नाशवान् कहते हैं। संसार सत् भी है और असत् भी, इस विरोधाभास से जन-साधारण को भ्रान्ति हो जाती है, परन्तु गीता इस रहस्य को सरलता से खोल देती है।

पृथक् देखने से संसार दुःखमय और मिथ्या बन जाता है। ऐसा जो जानता है उसी को वेदवित् अथवा ज्ञानी कहते हैं।

ज्ञानी होने के लिये संसार के मूल, संसार के स्वरूप और संसार में रहनेवाले नाशवान् एवं अविनाशी तथा क्षर और अक्षर से परे पुरुषोत्तम को जानना चाहिये। गीता का पन्द्रहवां अध्याय पुरुष को पुरुषोत्तम तक पहुंचानेवाला है।

तीनों गुणों से पोषित विषयों से बढ़ती हुई और कर्म के बन्धन से बंधी हुई इस संसार की नीचे की जड़ों को जो काट देता है उसे ऊपर की ओर देखने का अवसर मिलता है. वह उस परमधाम तक पहुँचने की सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त कर लेता है जहां राग रोग द्वेष द्वन्द और विकार नहीं हैं। उस परमपद तक पहुंचने के दो उपाय हैं—

१—कर्मों में बांधनेवाली नीचे की जड़ों को अनासक्ति के शस्त्र से काट देना।

२—उस परमपद की खोज करना जिसमें सर्वत्र सुख प्रगति सत्य शिव और सुन्दर भाव हैं। जहां

मनुष्य स्वार्थ और संकीर्णता से ऊपर उठ कर रहता है।

पहिले उपाय को भक्ति-मार्ग और दूसरे को प्रयत्न-मार्ग कह सकते हैं। भक्त अपने सारे कर्मों को भगवान् के अर्पण करके स्वयं निर्लेप हो जाता है। असंग का सबसे श्रेष्ठ शस्त्र यही है। संसार की सुन्दरता में भगवान् और उनकी पवित्रता है। जो कुछ अपवित्र विकारी तथा दुःख में डालनेवाला है जिसमें विषय-भोगों की लालसा, इन्द्रिय-सुखों की चाह और स्वार्थ है, वह सब भगवान् से अलग है, उसमें असुन्दरता और अपवित्रता है। उससे बचे रहना ही असंग होना है। भक्ति का प्रारम्भ भगवान् की शरण लेकर उसके हाथों में अपने आप को सौंप देने से होता है और पूर्णता सबमें रहते हुए सबसे अलग होकर पुरुषोत्तम तक पहुंचने में होती है।

भक्ति की साधना प्रयत्न-मार्ग पर चलने से होती है। प्रयत्न- मार्ग आत्मज्ञान का सहारा लेकर सावधानी से चलते रहने में है। परमात्मा पुरुष से अलग नहीं है, उसके साथ है और बिछुड़ जाने पर

भी उससे मिलने आता है। वेदों के ऋषियों ने कहा है—

यो जागार तमु समानेयन्ति

जो सावधान और जागे रहते हैं, उन तक पहुंचने की कामना वेद भगवान् करते हैं, उनसे मिलने के लिये वे आते हैं।

सावधान रहनेवाला ज्ञानी है, वह संगदोष को जीत लेता है। मान पाने के लिये मिथ्या कर्म नहीं करता, मोह को वह विश्व तथा विश्वपति के प्रेम में बदल देता है। उसके मन में अध्यात्मभाव की ज्योति अमन्द रहती है, सुख-दुःख और द्वन्द उसे अपने ध्येय से हटा नहीं सकते।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा:,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा: ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुखदु:खसंज्ञै:,
गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत् ।

जीता जिन्होंने संगदोष न मोह जिनमें मान है।
मन में सदा जिनके जगा अध्यात्मज्ञान महान् है॥
जिनमें न कोई कामना सुख-दुःख और न द्वन्द ही।
अव्यय परमपद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही॥

गीता के इस एक ही श्लोक में कर्म, भक्ति और ज्ञान का प्रकाश है। केवल कर्म से मनुष्य अनासक्त नहीं होता; भय, थकान बाधा उसे निराश और दुखी कर सकती हैं; परन्तु जब कर्म में प्रेम, माधुर्य अथवा भक्तिभाव भर जाता है तो उसमें कठिनाई नहीं रहती। वह हल्का हो जाता है।

प्राचीन भक्तों के इतिहास इसके साक्षी हैं। दान, व्रत, उपवास सबमें भक्ति से सरसता आती है। सुख-दुःख को समान करके भक्तभरत राम के पीछे पीछे नंगे पैरों वन में भागे-भागे गये थे। हनूमान् आग और पानी में भक्ति की शक्ति से कूद पड़ते थे। अनेकों देशभक्त फांसी के तख्ते पर भक्ति का सहारा लेकर हँसते-हँसते भूल गये हैं। अनासक्ति आत्म-ज्ञान निष्काम-भाव सबका उदय भक्ति के साथ होता है।

यह जीव भगवान् का सनातन अंश है। मन और इन्द्रियों से घिरकर यह संसार की ओर आता है, उन्हीं के सहारे विषयों को भोगता है और जितना भोगता है उतना ही अधिक नीचे गिरता है। जो

योग-युक्त हैं वे संसार के मूल को अपने अन्त
देखते हैं, यत्न करके आत्मा की ओर जाते हैं औ
उसे पाकर सुखसे उसीमें रहते हैं। यही वेदान्त क
सार है। वेद अनन्त हैं, परन्तु एक आत्म-तत्
को जान लेने से अनन्त ज्ञान भी सुलभ हो जाता है

भगवान् के पुरुषोत्तम रूप का ज्ञान प्राप्त करन
ही गुप्त से गुप्त और बड़े से बड़ा शास्त्र है। इसे
जाननेवाला अपना जीवन सफल कर लेता है।

जानने योग्य और रहस्य की बात यह है कि इस
संसार की उत्पत्ति उस अव्यय ब्रह्म तत्त्व से हुई है।
इसकी विशेषता यही है कि इसकी जो नश्वरता है
वही अमरता है। संसार का प्रवाह निरन्तर बहता
है। एक जल जाता है तो दूसरा नया आता है।
प्रवाह अखण्ड है, परिवर्तन अवश्य है। इस परिवर्तन
से संसार की विशेषता बढ़ती ही है। निरन्तर
प्रगति और तत्परता का पाठ संसार की प्रत्येक घटना
पढ़ाती है। नयी-नयी धरती, नयी-नयी ऋतुयें,
नये-नये फूल, मनुष्य में ताजगी और उत्साह की
उमंगें उत्पन्न करते हैं। गीता चाहती है कि इस

संसार को देखकर जीवन कर्ममय बने, नीचे की ओर न जाकर ऊपर की ओर जाये और उस पुरुषोत्तम में मिलकर रहे जो वास्तव में अभिन्न है, जिसके बिना संसार क्या मानव-शरीर भी नहीं चलता। शरीर में वह वैश्वानर रूप होकर अन्न पचाता है, प्राण और अपान वायु की धौंकनी रात-दिन बैठा-बैठा धौंकता है, मैल और विदेशी-दोषों को भस्म करता है। उस पुरुषोत्तम का आसरा लेने से संसार के दोष जल जाते हैं। सर्वत्र एक ही परमतत्त्व रह जाता है। ऐसा परमतत्त्व जो पुरुष के विषाद को दूर करके उसे पुरुषोत्तम बनाता है।

★

१६. दैवी और आसुरी सम्पत्ति

विषाद से घिरे हुए मनुष्य को कुछ जानने की इच्छा होती है—मुझे क्या करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, सुख और सफलता का कौनसा पथ है ? आदि-आदि विचार उसके मन में उठते हैं।

मन और मस्तिष्क के एक होते ही अन्तरात्मा प्रकाश से भर जाता है और परमेश्वर सम्मति देता है। विषादग्रस्त मनुष्य उसका संकेत पाकर जीवन के अनेकों क्षेत्रों में से गुजरता हुआ कर्म को भक्ति और ज्ञान बना लेता है। कर्म भक्ति और ज्ञान अलग-अलग रह कर सार्थक नहीं होते। तीनों को तीन समझने से अथवा एक के सहारे दूसरे की प्राप्ति करने की बात कहने से भी विषाद मूलतः नहीं कटता। कर्म ही जब भक्ति हो जाय और वही

ज्ञान हो जाय या यों कहें कि तीनों मिलकर एक हो जांय तब विषाद-ग्रस्त पुरुष का पुरुषोत्तम से योग होता है। पुरुषोत्तम-योग कर्म भक्ति और ज्ञान का योग है।

पुरुषोत्तम-योग तक पहुँचने के लिये गीता के पन्द्रह अध्यायों में स्थितप्रज्ञ होकर कर्म करने के योग, आत्म-संयम, आत्मज्ञान, भक्ति और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की चर्चा की गई और गीता का दिया हुआ जीवन-शास्त्र लगभग पूर्ण हो गया।

लोहा जब तक अग्नि के साथ रहता है तभी तक लाल बना रहता है। अग्नि का साथ छूटते ही वह काला और ठंडा पड़ जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन-शास्त्र जानकर भी यदि जीवन-यापन करनेवाली संचित सम्पत्ति पास नहीं रहती है तो विपत्तियां जीव पर फिर आक्रमण करके उस पर अपनी काली छाप लगा देती हैं। मनुष्य का परम पुरुषार्थ इसी में है कि वह जीवन पर कालिमा न लगने दे। पुरुषार्थ की इस पूर्णता के लिये गीता अपना अक्षय कोष खोलकर दैवी-सम्पत्ति का उपहार देती है—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

अभय—

किसी भी अवस्था में किसी प्रकार न डरना।

संकोच, चिन्ता, बाधा और संसार से न दबकर सत्य और सच्चिदानन्द की ओर निर्भयता से बढ़ते चलना। भय देनेवाले कर्मों से दूर रहना।

अभय दैवी सम्पत्ति का रक्षक है। शक्ति और विशाल बुद्धि इसका फल है। निर्भय होने के साधन हैं—आत्म-संयम और सम-दृष्टि।

सत्त्व-संशुद्धि—

अन्तःकरण की निर्मलता।

मन बुद्धि चित्त और अहंकार को निर्विकार तथा पवित्र करना।

अन्तःकरण की निर्मलता से बुद्धि का विकास होता है। ज्ञान की आंख खुल जाना इसका फल है।

सादा जीवन और उच्च विचार बनाने से अन्तःकरण पवित्र होता है।

ज्ञान-योग-व्यवस्थिति—

ज्ञान और योग में निरन्तर स्थिति।

सत्य, शास्त्र, गुरु अथवा अनुभव द्वारा जीवन के सत्य सिद्धान्तों को जानना ज्ञान है और उन्हें व्यवहार में लाना योग है। ज्ञान और योग में स्थित होने का अभिप्राय है जानकर कर्म करना।

कोरा ज्ञान हवाई महल है और अकेला कर्म भुस में लट्ठ मारने के समान है। ज्ञान और योग में स्थित होने से जीवन का सौन्दर्य खिलता है और परम शान्ति मिलती है।

श्रद्धा और तत्परता से ज्ञानयोग में स्थिति होती है। (गीता० ४।३९)

दान—

जो कुछ अपने पास है उससे यथाशक्ति सेवा और परमार्थ करना।

दान न देने से विद्या, बल और धन का पतन

होता है। विद्या, बल और धन की सार्थकता और सहयोग-वृत्ति में है। दान से मुक्ति अनन्त सम्पत्ति मिलती है।

करुणा, अस्तेय और अपरिग्रह से दान दे वृत्ति बनती है।

दम—

इन्द्रिय-दमन, संयम अथवा मन का निरोध
सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत आत्म-संयम है।
संयम में जीवन के विकास का क्रम है॥

दम सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत है। शारी मानसिक और बौद्धिक बल इन्द्रियों के रास्ते टपक कर बह जाता है। इन्द्रियों के द्वारों पर सं का पहरा बैठा देने से दम की साधना होती है

यज्ञ—

अधिकार और आवश्यकता के अनुरूप नि और अनासक्त आचरण, देवपूजा, संगतिकरण अं आदान-प्रदान।

यज्ञ धर्म है। यज्ञ का सर्वश्रेष्ठ भाव है—ए दूसरे की पूर्ति करना। यज्ञ से सांसारिक विषमत

के गड़हे भर जाते हैं। मानव की सम्पूर्ण उदार और पवित्र अभिलाषायें यज्ञ-कर्म से फूलती फलती हैं। यज्ञ के भाव में ईश्वरीय दिव्य कर्मों की निर्मलता है। जीवन को गति और नियम में लानेवाले कर्मों से यज्ञ का प्रारम्भ होता है। यज्ञ गीता का निष्काम कर्मयोग है।

स्वाध्याय—

सद्ग्रन्थों का विचारपूर्वक पाठ।

विद्या का अभ्यास, आत्म-निरीक्षण, सत्य की खोज और ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न स्वाध्याय के अन्तर्गत हैं।

स्वाध्याय से जीवन का विकास होता है। मनुष्य की प्रतिभा स्वाध्याय से उभरती है। नियम बना कर नित्य सत्संग, अध्ययन और पाठ करने से स्वाध्याय की साधना होती है।

तप—

कर्तव्य-साधना के लिये कष्ट-सहन।

तप में तप कर जीवन निखरता है। तप की अग्नि में विकार भस्म हो जाते हैं। तप की

साधना शरीर, वाणी और मन की पवित्रता से होती है।

आर्जव—

सरलता—कुटिल और टेढ़ा न होना।

सरलता से राग द्वेष और विकारों को सिर उठाने का अवसर नहीं मिलता, सत्य की साधना स्वयं हो जाती है और बुद्धि निर्मल रहती है।

बालवत् स्वभाव बनाने से सरलता आ जाती है।

अहिंसा—

मन, वाणी और कर्म से किसी को कष्ट न देना।

अहिंसा से राग द्वेष और वैरभाव क्षीण हो जाते हैं। जो किसी को दुःख नहीं देता उसे किसी से दुःख नहीं मिलता। संसार को तापों और पापों से बचाना अहिंसा का ध्येय है।

सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से अहिंसा की साधना होती है।

सत्य—

जो पूर्ण है, जिसमें अभाव नहीं है।

सत्य नारायण है। सत्य के पालन से दरिद्री

करने से कर्म में उत्साह बना रहता है, छल कपट और स्वार्थों का अभाव हो जाता है, कर्म करने की उसी प्रकार इच्छा होती है जैसे समुद्र में मिलने के लिये नदी की। इस स्थिति में त्याग की पूर्णता होती है।

शान्ति—

मन की निश्चित और निश्चल अवस्था।

शान्ति से शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। स्थितप्रज्ञ अथवा गुणातीत की स्थिति में पहुंचने के लिये शान्ति का सहारा लेना अनिवार्य है।

दीपक की ज्योति जैसे बिना वायु के अडिग रहती है, उसी प्रकार सब परिस्थितियों में मन के अडिग रहने पर शान्ति प्राप्त होती है।

कामकामी के पास शान्ति नहीं आती। समुद्र के समान जो गम्भीर उदार और विशाल हृदय हैं, शान्ति उन्हीं को वरण करती है।

अपैशुन—

किसी की बुराई न करना।

जिसकी आंख अपनी बुराई देखती है उससे पर-निन्दा नहीं होती। अपनी बुराइयों को छुपाने के लिये पर-निन्दा का सहारा लेना पड़ता है। दूसरे के दोष कहने और सुनने से अपने सद्गुणों को फूलने-फलने का अवसर नहीं मिलता। पर-दोष-दर्शन करने का स्वभाव बन जाने से मनुष्य शूकर की भांति जूही के खेत में भी कीचड़ खोजता है।

अपने दोषों को देखने से और भूलों का सुधार करने का प्रयत्न करने से अपैशुनता की साधना होती है।

प्राणियों पर दया—

सम्पूर्ण प्राणियों के लिये अपने हृदय का द्वार खोल देना।

दया से धर्म होता है। पानी जैसे गड़हा भरकर ही आगे वढ़ता है उसी प्रकार दया प्राणियों के दुःख दूर करके आगे चलती है।

दया से आत्मभाव वढ़ता है। जो सब पर दया करता है उसी पर परमात्मा दया करते हैं। दया की

साधना प्रेम और सेवाभाव से होती है।

अलोलुपता—

विषयों के मिलने पर भी, इन्द्रियों में चंचलता और विकार न आने देना।

अलोलुप पुरुष के भोग उसकी इच्छा के सेवक होते हैं। लोलुप पुरुष भोगों के लिये इन्द्रियों और इच्छाओं का दास बना रहता है।

अलोलुपता से मन के विकार नष्ट होते हैं, इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है, स्वास्थ्य और आयु में निरन्तर वृद्धि होती है।

इन्द्रियों को उनका आहार न देने से अलोलुपता की साधना होती है।

मार्दव—

मन वचन और कर्म से कोमल रहना। क्रूरता और कठोरता को हृदय के किसी कोने में टिकने न देना।

मार्दव से स्वभाव में मधुरता आती है। हिंसा क्रूरता द्रोह द्वेष सब मधुरता के चरणों में माथा टेक देते हैं। विश्व और विश्वनाथ का प्रेम मधुरता से मिलता है।

तेज—

अन्तरात्मा का अंग-प्रत्यंग से निकलता हुआ दिव्य प्रकाश।

जैसे सूर्य प्रत्यक्ष अपना प्रभाव डालता है उसी प्रकार तेज सदा प्रकाशमान् रहता है। तेज आत्मा का बल है, सत्य की ज्योति है और पवित्रता का ध्वज है। तेजस्वी का सर्वत्र मान होता है। मौन रहकर भी सम्पर्क में आनेवालों को वह अपना सन्देश देता है।

आत्म-संयम तप और ब्रह्मचर्य द्वारा आत्मा का जितना विकास होता है उतना ही तेज उभरता है।

क्षमा—

अपने मन के प्रतिकूल होने पर भी क्रोध और विकार न आने देना।

क्षमा के साथ शक्ति होने से ताप और उपद्रव शान्त होते हैं। क्षमा मनुष्य को जलने से बचाकर शीतलता देती है। क्षमा से सहन शक्ति बढ़ती है।

क्षमैका शान्तिरुत्तमा—क्षमा सर्वोत्तम शान्ति है।

आत्मिक और शारीरिक बल से क्षमा करने की

शक्ति आती है।

धृति—

प्रत्येक अवस्था में अडिग और सावधान रहना।

दुःख निराशा और ग्लानि में सहारा देनेवाला धैर्य है। धैर्य से शूल फूल बन जाते हैं, कठिनाइयां सरल हो जाती हैं।

बुद्धि की पवित्रता और दृढ़ता से धैर्य की साधना होती है।

शौच—

निर्मल—विकारहीन होना।

अन्तर और बाहर के मैल धुलकर पवित्र और स्वच्छ मन बन जाने पर हृदय की आंख खुलती है और मनुष्य में स्पष्ट देखने की शक्ति आजाती है। पवित्रता में भगवान् बसते हैं।

पवित्र या अपवित्र कोई कैसा भी हो भगवान् का अखण्ड स्मरण करने से भीतर और बाहर सब ओर से पवित्र हो जाता है।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यःस्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः।

अद्रोह--

अपने कार्य के लिये किसी के अहित की इच्छा न करना।

अभिमान, कामना और प्रतिस्पर्धा से द्रोह का जन्म होता है। द्रोह छूट जाने पर दूसरे के गुण अपने में आजाते हैं, समदृष्टि बन जाती है और मैत्री तथा मुदिता के सहारे पुरुष परमेश्वर तक पहुंच जाता है।

दूसरों के दोष न देखकर अपनी ओर देखने से और दूसरों के गुण ग्रहण करने से अद्रोह की साधना होती है।

नातिमानिता—

औरों को मान देना और स्वयं अपने को माननीय और पूज्य न मानकर विनम्र बने रहना।

अहंकार, घमंड, गर्व, अभिमान सबका एक ही भाव है। इनका न होना ही नातिमानिता है। अपना मान या गर्व न करने से आत्मसम्मान की रक्षा होती है और नम्रता हृदय में निरन्तर निवास करती है। नम्रता में दैवी सम्पत्ति की रक्षा करने की

शक्ति है। नम्रता की नींव पर नीति दृढ़ता से टिकती है, नम्रता से अनहोने कार्य हो जाते हैं।

विद्या से नम्रता की साधना होती है—"विद्या ददाति विनयम्।"

ये हैं छब्बीस दैवी सम्पत्ति के गुण। मनुष्य में मनुष्यता का कितना विकास है, जीवन की कला में सत्य और सुन्दरता कितनी बढ़ी-चढ़ी है इसका माप दैवी सम्पत्ति से होता है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म सेवा, प्रेम और सत्य से भरा रहे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कर्म, भक्ति और ज्ञान के अंकुर फूटते रहें तभी दैवी सम्पत्ति के गुण उपजते हैं। इनके विपरीत गुणों को आसुरी सम्पत्ति कहते हैं।

संसार में सद्गुण और दुर्गुण देवता और दानव, पाण्डव और कौरव साथ-साथ रहते हैं। मन की सद् और असद् प्रवृत्तियों में नित्य संघर्ष चलता रहता है। इसीलिये जीवन एक युद्ध है। शरीर में एक ओर सद्गुणों की सेना है तो दूसरी ओर दुर्गुण भी हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये आसुरी सम्पत्ति के सेनापति

हैं। इन छे दोषों से आसुरी सम्पत्ति बलवती है।

दैवी सम्पत्ति से स्वतन्त्रता और उसका सुख मिलता है। आसुरी सम्पत्ति बन्धन में बांधती है और सदा दुखी अशान्त तथा इन्द्रियलोलुप बनाये रखती है।

गीता में आसुरी सम्पत्ति का वर्णन इसीलिये है कि मनुष्य उसे जानकर छोड़ सके। असुर छोटी-छोटी बातों पर झगड़ते हैं। पवित्रता, आचार और सत्य को वे अपने पास भी नहीं आने देते। कहते यह हैं कि संसार और जीवन कितने दिन का? जिन्दगी बार-बार नहीं मिलती, खाना-पीना और भोगना ही जीवन का सुख है। जितना मैं जानता हूँ उससे अधिक कोई नहीं जानता। मेरे समान और कौन है? मुझे यह करना है, वह करना है, सारी दुनिया को अपने हाथ में लेना है, जैसे मैं चाहूँ, वैसे ही हो, मेरी इच्छा के विरुद्ध जो चलेगा उसे मैं गिरा दूँगा। ये सब भाव असुरों का पीछा नहीं छोड़ते। मृत्यु तक उन्हें आशा और चिन्तायें घेरे रहती हैं, इन्द्रियों के झूठे और क्षण-भंगुर काम-

ों में वे आनन्द खोजते हैं, अन्याय से धन औ
र की इच्छा करते हैं, क्रोध और काम के सहा
ोरथ सिद्ध करने के स्वप्न देखते हैं। ऐसे न
रियों के सामने काम क्रोध और लोभ तीनों नर
द्वार खुले रहते हैं। इन नरक-द्वारों में जो जा
वे बुरी तरह गिरते हैं। यद्यपि इनमें भ
ाकर्षण है, बड़े-बड़े इनके रास्ते हैं, ऊँचे-ऊँ
ावन, घोड़े बग्घी कार सब इनमें हैं; परन्तु इ
ावेश करनेवाले को क्षण भर के लिये भी शां
और सुख का दर्शन नहीं होता।

दूसरी ओर देवताओं का मार्ग है। वह छो
है, उस पर चलनेवाले को सावधानी से च
पड़ता है। साथी भी नहीं मिलते, परन्तु वहां अख
सुख है। एक बार उस मार्ग पर चल जा
फिर कहीं दूसरी ओर जाने की इच्छा नहीं ह
विषय-भोग फीके पड़ जाते हैं।

ये दो मार्ग खुले हुए हैं। जिसे नरक के
पर चलना हो वह मन का अनुगामी बने
जिसे मुक्ति के मार्ग पर चलना हो उसे शास्

पल्ला पकड़ना चाहिये।

शास्त्र भगवान् की वाणी हैं। उर-अन्तर में बैठे हुए भगवान् जो कुछ बोलते हैं उसे सुन कर मनन और निदिध्यासन करनेवाला शास्त्रों को जानता है। शास्त्र का सहारा लेनेवाले संसार की उलझन से निकल जाते हैं।

जो शास्त्रविधि को छोड़ करता कर्म मनमाने सभी।
वह सिद्धि सुख अथवा परम गति को न पाता है कभी॥

१७. श्रद्धा और सावधानी

गीता का सत्रहवां अध्याय कर्मयोग का शास्त्र है, समुद्र के समान अगाध और गम्भीर, परन्तु मीठा।

शास्त्रज्ञान से जीवन की कला जागती है और मुक्ति का दर्शन होता है, परन्तु जीवन में इतनी अनुकूलता और सुयोग नहीं मिलते कि शास्त्र के ज्ञान को जानकर उसे धारण किया जाय। मानव-मात्र की यह कठिनाई श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से सरल हो गयी है।

सभी देशों और सभी मनुष्यों का कोई न कोई शास्त्र है। फिर भी अर्जुन के मानव-हृदय में शंका उठी कि जिन्हें शास्त्रों का साधन नहीं मिलता, जो देशकाल परिस्थिति में उलझ कर शास्त्रों को

जानने और उनका अभ्यास करने में समर्थ नहीं होते, उन्हें किस मार्ग पर चलकर जीवन बनाना चाहिये ?

अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने संक्षेप में सम्पूर्ण जीवन-शास्त्र कह डाला।

जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही मनुष्य होता है।

धर्म, ज्ञान, यज्ञ, मुक्ति सब में श्रद्धा का बल है। श्रद्धा सम्पूर्ण कर्मों का मेरुदण्ड है।

श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म यत् क्रियते नृभिः।
सुविशुद्धेन भावेन तदनन्ताय कल्पते ॥

श्रद्धा और विधि दोनों के योग से किया हुआ निर्विकार कर्म अनन्त आनन्द से भरा पूरा रहता है।

प्रकृति के प्रभाव से मनुष्य त्रिगुणों में रहता है। जिसमें जिस गुण की प्रधानता होती है उसीके अनुसार उसकी श्रद्धा बनती है। वृत्तियों के अनुरूप मन बन जाता है।

सात्त्विक भाव में टिके रहनेवाले का अन्तःकरण निर्मल होता है। निर्मल अन्तःकरण से निकली हुई

वाणी शास्त्रों की वाणी है। इसी प्रकार राजसी और तामसी गुणों में रहनेवाले समझने की योग्यता खो देते हैं और कुछ जानने की इच्छा भी नहीं करते। छोटे-छोटे कर्मों में उनका जीवन नष्ट हो जाता है।

सात्विक राजसी या तामसी श्रद्धा के भाव कर्म के अनुसार बनते हैं। कर्मों और विचारों को बनानेवाला आहार है। आहार-सम्बन्धी नियमों को जानना और मानना श्रद्धा बनाने का उत्तम और सरल साधन है।

कहावत प्रसिद्ध है कि—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः

होता है आहार शुद्धि से अन्तःकरण पवित्र।
निर्मलता में ज्योति जागती बनता दिव्य चरित्र॥

आहार से मन बुद्धि और शरीर को बल मिलता है। स्वस्थ शरीर से स्वस्थ भक्ति और सेवा होती है। मन को शान्त और प्रसन्न रखने के लिये स्वास्थ्य सर्वश्रेष्ठ साधन है।

रोगों से केवल शरीर ही अस्वस्थ नहीं रहता

वरन् मन भी मलिन होता है। दूषित विचार उदासी, आलस्य और कर्महीनता शारीरिक रोगों से भी अधिक भयंकर हैं। शारीरिक और मानसिक सब रोगों की उत्पत्ति आहार-विहार से होती है, आहार शुद्ध कर लेने से रोग निर्जीव हो जाते हैं।

स्वाद के लिये भोजन करनेवाला रोगों का परम प्रिय होता है। कम खाने से इतनी हानि नहीं होती जितनी अधिक और अनियमित खाने से होती है। जीभ की चाट ने अनेकों प्रकार के भोजनों का आविष्कार किया है। मांस मदिरा उत्तेजक रूखे चरपरे खट्टे पदार्थ रोगों के मित्र हैं। इनका आश्रय पाकर ही रोग मानव-तन में टिकते हैं। स्वाद के बादल जब उमड़ते हैं तो बुद्धि का विकास और प्रकाश ढक जाता है।

गीता ने संक्षेप में आहार-सम्बन्धी नियम इस प्रकार कहे हैं -

आयु, सात्त्विक बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख, और प्रीति बढ़ानेवाले रसदार, चिकने, मन को भानेवाले और शरीर पर अधिक समय तक प्रभाव रखनेवाले

पदार्थ सात्त्विक आहार कहे जाते हैं। सात्त्विक आहार अमृत है। अमृत से सिंचे हुए शरीर में स्वास्थ्य और बुद्धि के नित्य नये अंकुर उभरते हैं। सात्त्विक भोजन करनेवाले में सुख और प्रेम गंगा की तरंगों की भांति हिलोरें लेते हैं। उस प्रवाह में द्वेष दोष पाप ताप स्वयं ही बह जाते हैं।

सुश्रुत में सात्त्विक भोजन से नीरोग रहने की बात कही गई है। नीरोगी का बुढ़ापा दूर भागता है, उसकी आयु निरन्तर बढ़ती है, यहां तक कि

'अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषाः"

नीरोग रहनेवाले के मनोरथ उससे मिलने आते हैं, उसकी आयु चारसौ वर्षों तक बढ़ती है।

भोजन का प्रश्न गम्भीर और विचार करने योग्य है। चित्त शुद्ध हो जाने पर कर्म की कला प्रत्यक्ष होती है, जीवन माधुर्य से भर जाता है। आत्मा का सौन्दर्य मुख को कमल जैसा दीप्तिमान कर देता है।

श्रीकृष्ण ने आहार-शुद्धि के लिये गो-पालन व्रत लिया था। गो-सेवा से हिंसा और मांस-भक्षण

की प्रवृत्ति स्वयं रुक जाती है। श्रीकृष्ण ने दूध, घी, छाछ की महिमा युग-युग के लिये बढ़ा दी, परन्तु गो-पालन हमारे लिये केवल श्रीकृष्ण-लीला जैसा रह गया है। उससे हम गोपालकृष्ण को केवल याद तो कर लेते हैं, परन्तु उनका प्रसाद लेकर अमृत नहीं पीते।

मांस, मदिरा, वनस्पति तेल के सेवन से इस देश के स्वास्थ्य का जितना पतन हुआ है उतना और किसी दोष से नहीं हुआ। कड़वे, खट्टे, नमकीन, चटपटे बहुत गरम भोजन की रुचि इन्हीं के कारण उत्पन्न होती है।

भारतीय शरीर-विज्ञान-शास्त्र में राजसी भोजन के दोषों का उल्लेख मिलता है—

अत्यन्त खट्टे पदार्थ खाने से प्यास, जलन, अन्धेरा सूजन खुजली और मन में भ्रम की वृद्धि होती है।

नमकीन और चटपटे भोजन से आंख की ज्योति घटती है, शरीर में झुर्रियां पड़ जाती हैं, बाल सफेद हो जाते हैं।

उठती है। यज्ञ से संसार की विषमतायें मिटती हैं, मनुष्य की अपनी क्षति-पूर्ति होती है, जीवन सुख से भरता है और सब कुछ नियम संयम और व्यवस्था में होने लगता है।

यज्ञ, दान और तप तीन साधन हैं जिनसे सृष्टि समाज और शरीर की प्रगति होती है। इन तीनों में भी भाव का मूल्य है। अनासक्त होकर मन और शरीर की एकता से जो यज्ञ किया जाता है, जिसमें स्वधर्म का आचरण और कर्म की कुशलता सदा साथ है, कर्तव्य की भावना और संयम से जो होता है, वह सात्त्विक यज्ञ है। गंगा की प्रत्येक लहर में जैसे पवित्रता है, वेद के प्रत्येक अक्षर में जैसे आत्मा है, पतिव्रता के प्रत्येक कर्म में जैसे प्रियतम है उसी प्रकार सात्त्विक यज्ञ के प्रत्येक भाव में परमेश्वर रहता है।

यज्ञ का नाम हो, परन्तु उसमें फल की कामना और मिथ्याचार हो तो वह उसी प्रकार है जैसे मिट्टी के बने हुए खिलौने, जिनका रूप मनुष्य जैसा है, परन्तु जिनमें आत्मा नहीं है। यज्ञ की आत्मा सेवा,

सत्य और परमार्थ है। मिथ्याचार से किया हुआ यज्ञ राजसी होता है।

सबसे अधिक दोषपूर्ण वह यज्ञ है जिसमें न कोई विधि है, न दान का भाव है; मन्त्र और श्रद्धा का जिसमें कोई स्थान नहीं। ऐसा यज्ञ तामसी कहा जाता है।

कर्म करने में सावधानी और कुशलता यज्ञ की साधना है। विधि से किया हुआ कर्म सफलता का दर्शन कराता है।

गहराई तक पहुँचती है। जीवन-वृक्ष की जड़ को श्रद्धा सींचती है। श्रद्धाहीन यज्ञ उसी प्रकार है जैसे प्राणहीन शरीर या जल के बिना नदी।

यज्ञ की सात्त्विकता का बोध कर्म की गहराई तक पहुंचने से होता है। द्रव्य-दान द्वारा नर-नारी यज्ञ करते हैं, परन्तु देखना यह चाहिये कि वह धन आता कहां से है। उसके कमाने में यज्ञभाव नहीं है तो देने में यज्ञभाव कैसे बनेगा?

कर्मों और विचारों से प्रत्येक अवस्था में यज्ञ हो इसके लिये गीता तप की दीक्षा देती है।

तप के तीन अंग हैं—१. शरीर का तप, २. वाणी का तप और ३. मन का तप।

देवता ब्राह्मण गुरु और विद्वानों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शरीर का तप है।

वाणी का तप है स्वाध्याय करना और सत्य बोलना—ऐसा बोलना जिससे किसी को दुःख न हो, जो सब को प्रिय लगे। सत्य से शास्त्र बने हैं। सत्य के बिना धर्म प्राणहीन है। सत्य से परे कोई

परमेश्वर नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है। यज्ञ, दान, पूजन, भजन सबकी शक्ति सत्य है। सत्य से प्रतिष्ठा, कीर्ति, यश और पुण्य है, सत्य से सब मनोरथ पूरे होते हैं।

सत्य की रक्षा करने का बल स्वाध्याय से मिलता है। नियमित स्वाध्याय मस्तिष्क को बल और आत्मा को शान्ति प्रदान करता है। वाणी के प्रवाह में ज्ञान की गहराई स्वाध्याय से दिखती है। स्वाध्याय और सत्य दोनों से वाणी का तप होता है।

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम और शुद्धि को मन का तप कहते हैं।

तन, मन और वाणी के तीनों तपों को सात्त्विक भाव से करनेवाला मनुष्यता से विभूषित होता है। सत्कार, मान, पूजा और दम्भ से भरा हुआ तप राजसी कहलाता है और अज्ञान तथा हठ से मन को पीड़ा पहुँचा कर द्वेष द्रोह से किया गया तप तामसी होता है।

तप में सहने और बढ़ने का भाव है। तपस्वी दोषों और द्वन्द्वों को तप की आग में जला देता है।

धर्म का अथवा जीवन-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय दान है। दान जब कर्तव्य समझ कर देश, काल और पात्र को देख कर दिया जाता है तो सात्त्विक होता है। सात्त्विक दान में श्रद्धा की प्रधानता रहती है। किसी भय, कामना या बदले के भाव से दिया गया दान राजसी कहा जाता है। अवहेलना और तिरस्कार से दिया हुआ तथा कुपात्रों को दिया हुआ दान तामसी है।

जो कुछ किया जाय यज्ञ, तप अथवा दान सबमें यदि सात्त्विकता है तो उनसे जीवन बनाने में सहायता मिलती है। जहां राजसी और तामसी भाव हैं वहां जीवन की कला दब जाती है।

सात्त्विकता में परमेश्वर बसता है। इसीलिये सात्त्विक भाव बनाना जीवन-शास्त्र का पहिला पाठ है। सात्त्विक भाव बनाने के लिये प्रत्येक कार्य परमेश्वर का नाम लेकर प्रारम्भ करना चाहिये। परमेश्वर के अनन्त नाम और रूप हैं। ॐ तत्सत् परमात्मा के नामों का प्रतीक है। वाणी में, कर्म में और विचारों में ॐ तत्सत् को भरकर कर्म करने से कर्म निर्दोष

ा जाते हैं।

जीवन को तपोमय बनाने के लिये मनुष्य की ारी क्रियायें निर्मल और भक्तिमय होनी चाहियें। रमात्मा कभी किसी से अलग नहीं है, सर्वत्र है, त्येक कर्म को देखता है, प्रत्येक कर्मक्षेत्र में साथ हता है, इतना समझ लेने से पवित्रता आती है।

भक्ति में निमग्न रहने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग ईश्वर-अर्पण-बुद्धि से कर्म करना है। इसीलिये सत्य और परमेश्वर के उपासक ॐ तत्सत् कह कर कर्म करते हैं।

· प्रविशि नगर कीजे सब काजा,
हृदय राख कौशलपुर राजा।

रामचरितमानस का यह आदेश सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करता है। राम को हृदय में रखकर छोटे से हनुमान् ने सोने की लंका भस्म कर दी, असुरों का विध्वंस किया, विकारों के वन उखाड़ फेंके; उसी प्रकार ॐ तत्सत् कहकर कार्य प्रारम्भ करने से मन ईश्वरीय शक्ति से भरा रहता है।

ॐ का अर्थ परमेश्वर है। ॐ आत्मशक्ति का रूप है। ॐ के ब्रह्मभाव में उत्पत्ति स्थिति और

मुक्ति का रहस्य है। ॐ एकाक्षर को आत्मसात् क
लेनेवाला, मन बुद्धि चित्त और अहंकार चारों घोड़
की बागडोर परमात्मा के हाथ में सौंप देता है। प्रत्ये
कर्म के प्रारम्भ में ॐ इसी भाव से कहना चाहिये।

ॐ के पश्चात् तत् को तन-मन में भरना है। तत
उसका संकेत है—वही वह है। सब कुछ करके भी
अलिप्त है। उसकी शक्ति छीजती नहीं, व्यय नहीं
होती। तत् का उच्चारण करके उसके अव्यय और
निर्लेप भाव से कर्म करना चाहिये। ऐसा करते-करते
अलिप्त रहने का भाव बन जाता है और शक्ति व्यर्थ
व्यय नहीं होती।

सत् वह है जिसका कभी अभाव नहीं होता।
परमेश्वर सत् है। शुभ और मंगलमय कृत्य यज्ञ तप
दान सत् हैं। सत का विचार करके सत्कर्मों को
ग्रहण करना और असत्कर्मों का त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार ॐ तत्सत् ब्रह्म का निर्देश है।
उसके बोध से अकर्मण्य पुरुषार्थी बन जाता है, मोह
भक्ति में बदल जाता है, विकारों का मैल धुल जाता
है। अनासक्त कर्म की सहजभाव से साधना होती
है या यों कहना चाहिये कि पुरुष परमेश्वर में टिक
कर कर्म करने लगता है। लोक और परलोक दोनों
बन जाते हैं। ॐ तत्सत्

१८. चरणामृत

ीकृष्ण और अर्जुन का संवाद ब्रह्म-विद्या के
से प्रसिद्ध हुआ। ब्रह्म-विद्या वह योगशास्त्र है
र्म में मुक्ति के दर्शन कराता है। नदी का प्रवाह
ो जाने से जैसे मट्टी मैल जमा हो जाता है,
प्रकार जीवन में कर्म का प्रवाह रुक जाने से
ार भर जाते हैं।

संसार की एक बड़ी उलझन 'कर्म' और
न्यास' इन दो शब्दों में है। गीता इस उलझन को
ाझाने के लिये कर्म-संन्यास द्वारा दोनों शब्दों के
ाार्थ को एक कर देती है।

कर्म के साथ कामना न रहे तो कर्म-संन्यास
ोता है। कर्म के फल को छोड़ने से त्याग होता है,
अन्तिम अर्थ दोनों का एक ही है। गीता की घोषणा

है—कर्म किसी दशा में भी छोड़ना नहीं चाहिये, ईश्वर को हृदय में रखकर निरन्तर कर्म करने में जीवन की पूर्णता है, परन्तु फल का त्याग करना चाहिये।

कुछ विद्वानों का कहना है कि कर्म दोषों से उसी प्रकार घिरे रहते हैं जैसे धूयें से आग। अतः ज्ञानी को कर्म का स्वरूपतः त्याग करना चाहिये।

इस विषय में गीता ने अपना निश्चित और स्पष्ट निर्णय दिया है कि यज्ञ, दान और तप के कर्म किसी दशा में भी छोड़ने योग्य नहीं हैं। इन कर्मों द्वारा विधाता सृष्टि-चक्र चलाता है, इनसे हृदय अधिकाधिक निर्मल, विशाल और उदार होता है। तेल के बिना जैसे बत्ती नहीं जलती इसी प्रकार यज्ञ के कर्मों के बिना जीवन ज्योतिर्मय नहीं बनता।

गीता ने कर्म करने के दो मार्ग दिखाये हैं—

१—कर्म के फल को छोड़ना चाहिये।

२—कुछ कर्म ऐसे हैं जिन्हें बिल्कुल छोड़ देना चाहिये।

बुद्धिवादी जन, शास्त्रों के अर्थों की खींचातानी करके उन्हें अपने अनुकूल बना लेते हैं। चोरी, हिंसा, व्यभिचार के कर्म करके भी अनासक्त रहने का दावा करते हैं. परमात्मा की आंखों में धूल झोंकना चाहते हैं। अनासक्त रहकर कर्म करने का तरीका है ईश्वर को साथ रखकर कर्म करना। जिन कर्मों में हिंसा, राग, द्वेष असत्य आदि रहने से परमेश्वर नहीं रहता उनमें अनासक्ति का भाव आना दुष्कर है। अतः केवल यज्ञ के कर्म करना गीता का कर्मयोग है।

यज्ञ के कर्म भी राजसी और तामसी नहीं होने चाहियें, यदि होते हैं तो उनमें दैवी भाव नहीं रह सकता। फल-त्याग वहीं सम्भव है जहां दैवी भाव है। राजसी और तामसी कर्मों में फल की अनन्त कामना होती है। अतः अनासक्त होकर कर्म करने से राजसी और तामसी दूषित कर्म स्वयं छूट जाते, या यों कहें कि राजसी और तामसी कर्म छोड़ने से अनासक्त कर्मयोग पूरा हो जाता है।

त्याग के सत्य और सार को जान लेने पर नियत कर्म करने में आलस्य नहीं आता। निराशा भूठ

असन्तोष और बाधायें मार्ग में रोड़े नहीं अटकाते
आलस्य अज्ञान मोह से नियत कर्म छोड़ दे
तामसी त्याग है। त्याग का मिथ्याचार देश जा
समाज और व्यक्ति का जीवन नष्ट कर देता है, उन्न
के मार्ग बन्द हो जाते हैं, प्रगति में उत्साह नह
रहता। भारत की दुर्दशा तामसी त्याग से हुई है।

राजसी त्याग में कायाकष्ट, क्लेश और भय से
कर्म छूट जाता है। तबियत में रईसी भर जाने
न होने के डर से कर्म छोड़ देने और 'पेट को दो
रोटी चाहियें और करना क्या है' ऐसे विचारों से
मिथ्या सन्तोष करके कर्म छोड़ना राजसी त्याग है।
ऐसा त्याग करके सुख और परमेश्वर की खोज
करनेवाला सदा भटकता है, वह काल कर्म और
ईश्वर को ही दोष लगाता रहता है।

सात्त्विक त्याग वही है जिसमें मनुष्य निरन्तर
कर्म करता हुआ बढ़ता है, स्वधर्म और स्वदेश के
लिये जीवन लगाता है, जीवन बनाने के लिये चरित्र
को दृढ़ करता है और चरित्रवान् होने के लिये
स्वार्थ-कामना से कर्म नहीं करता। कर्म का जो फल

मिलता है उसे भी जनता-जनार्दन के अर्पण कर देता है।

इस प्रकार सात्त्विक त्याग करनेवाला स्वधर्म के किसी कर्म से भयभीत नहीं होता, चिन्ता लोभ काम क्रोध उस तक नहीं पहुँच पाते, स्वधर्म से बचकर कहीं ठहरने की इच्छा नहीं करता, उसे कर्तव्य-पालन में संशय या दुविधा नहीं होती।

देहधारी तुरन्त ही इतना महान् नहीं बन जाता परमात्मा के चरणों में बैठकर जो अहंकार की बलि देता है, अपने को कर्ता न मानकर निर्मल बुद्धि से कर्म करता है। श्रद्धा तत्परता और संयम के पथ पर आगे बढ़ता है उससे मिलने के लिये परमेश्वर उठ दौड़ते हैं। जहां पुरुष और पुरुषोत्तम मिल जाते हैं वहीं मुक्ति है। इस मिलन से कर्म स्वयं शुद्ध हो जाता है। त्याग दौड़कर कर्म का आलिंगन करता है और कर्ता उस त्याग-भाव का भी अभिमान छोड़कर केवल परमेश्वर को पकड़ता है। ऐश्वर्य धर्म यश श्री वैराग्य और मुक्ति इसी राज-पथ पर मिलते हैं। इस रहस्य को जानना ही ज्ञान है

ज्ञान की आंख जब खुलती है तो सब में एक ही परम-तत्त्व का दर्शन होता है। ऐसा कोई नहीं है जिसमें ज्ञान न हो। परमेश्वर ने सब को समान ज्ञान दिया है। उस ज्ञान से जो दाता को देख लेता है, उसका आभार मानता है, उससे उऋण होने के लिये सब प्राणियों के रूप में उसे देखकर उसकी सेवा करता है, उसका ज्ञान प्रकट हो जाता है और कभी साथ नहीं छोड़ता। गीता ने इस ज्ञान को ही सात्त्विक कहा है।

ज्ञान हो, पर ममता से समता की दृष्टि न हो पाये, अपने पराये का भेद बना रहे, तो ज्ञान राजसी कहलाता है।

इससे भी गिरा हुआ तामसी ज्ञान है। जो छोटे से काम के लिये भी पूरा नहीं पड़ता। जहां जरूरत पड़ती है वहीं उसमें घाटा आ जाता है, न बढ़ता है, न बढ़ने देता है।

कर्म में बड़ी शक्ति है। जहां कुछ न हो वहां कर्म से सब कुछ हो जाता है। कर्म को सात्त्विक बनाया कि संसार और संसार के स्वामी को पाया।

संयमपूर्वक नियमित कर्म करने से, राग द्वेष और
ासक्ति को छोड़ने से, सात्त्विक कर्म होता है।

आशा वासना अहंकार बुद्धि हो और इन्द्रिय-
ुखोंको पाने के लिये रात-दिन कर्म का भार रोते-
ाते सिर पर उठाये फिरें तो समझना चाहिये कि
ाजसी कर्म हो रहा है।

कर्म तो वही है जिसके करने में प्रसन्नता बनी
हे, बोझा न लगे, और शिथिलता भी न आये।
ंयम और सावधानी से किया हुआ कर्म भगवत्पूजा है।

पूजा का भाव सब में नहीं उठता। प्रायः नरनारी
ऐसे कर्म करते हैं जिनमें हानि, हिंसा, परिणाम और
पौरुष का ध्यान नहीं रहता और जिनका प्रारम्भ
मोह से होता है। ऐसे कर्म तामसी कहे जाते हैं।

धैर्य से धीरे-धीरे सात्त्विक कर्म करते हुए बढ़ना
चाहिये, सुख इसी जीवन में मिलेगा। तामसी सुख
के पीछे पागल होकर दौड़ने से कोई लाभ नहीं है।
जिस सुख से आज भी मोह, भय, आलस्य और
अज्ञान है और आगे भी रहेगा, वह अन्धा बनाने-
वाला सुख तामसी है। मनुष्य-जीवन तामसी सुख

; लिये नहीं है। राजसी सुख भी जीवन का ध्ये
हीं है। इन्द्रियों से विषय-भोग भोगने में सु
ालूम होता है, मिलता नहीं। जो मिलता है उसक
रिणाम भयंकर होता है। अतः यह विष-तुल्
जसी सुख त्यागने योग्य हैं। इनमें शान्ति क
'म भी नहीं है।

सुख तो एक ही है—अखण्ड और अनन्त सुख
ामें भय, मोह, रोग और दुःख नाम को भी नहं
ते। हो सकता है कि यह सात्त्विक सुख प्रारम्भ
दुष्प्राप्य अथवा कठिन दीखे, पर सात्त्विक कर्मो
ा भगवत्कृपा से एक बार मिल जाता है तो जैसे
ृत पी लिया हो। फिर तो देह के दह से
ाभरा काली नाग निकल जाता है, आत्मारूप
ा की बंसी बजती है, निर्मल मधुर और शीतल
रूप बुद्धि कल-कल ध्वनि से प्रवाहित हो उठती
यही सात्त्विक सुख है। इसे पाने के लिये जो
ार्थ है, वही यज्ञ-कर्म है।

तीनों गुणों से सारा संसार बना है। संसार
ा है जिसका इन गुणों पर अधिकार हो जाता

है। तमोगुण और रजोगुण को बांधकर डाल देनेवाला निर्भय हो जाता है, परन्तु पुरुषोत्तम उस रूप को हृदय से लगाते हैं, जो सतोगुण के अभिमान का भी अन्त कर देता है।

कुछ भी हो, पूजा जब कर्मों से होती है—ऐसे कर्मों से जिन्हें परमात्मा स्वीकार कर ले तो प्रवृत्ति में सब सुख है। प्रत्येक कर्म भगवान् के योग्य बने, कर्म करके कर्ता मुस्कराकर भगवान् की ओर देखे और भगवान् मन ही मन प्रसन्न होकर कृपा का हाथ बढ़ादें तो कर्म सार्थक हो जाता है। अन्तिम और प्राप्त करने की जो वस्तु है वह परमेश्वर है। मनुष्य अनेकों उलझनों में फंसा रहता है; जो नहीं करना है उसे करता है और जो करना है उसे नहीं करता। भगवान् उस पर दृष्टि रखते हैं, उसके हृदय में बैठकर देखते हैं और काल-कर्म के यन्त्र पर चढ़ाकर उसे नचाते हैं।

कर्म सुधर जाय तो काल की बाधा नहीं रहती। इसलिये समय की बाट नहीं देखनी चाहिये। उसकी शरण लेनी चाहिये जो कर्म सुधारनेवाला है। यही

गीता का गुप्त ज्ञान है। इस ज्ञान को जो धारण करते हैं और खुले हाथों सबको बांटते हैं वे भगवान को प्रिय होते हैं। भगवान् उन्हें अपना कार्य-कर्ता मानते हैं।

अन्तिम बात जो गीता कहती है वह सर्व-श्रेष्ठ है। यों तो गीता की प्रत्येक बात से बात बनती है, पर गागर में सागर या यों कहें कि एक श्लोक में सम्पूर्ण ज्ञान का दर्शन करना है तो भगवान् की अभय वाणी सुननी चाहिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो।
मैं मुक्त पापों से करूँगा तू न चिन्ता व्याप्त हो॥

धर्म एक ही है और वह मानव-मात्र का है। देश काल या परिस्थिति की उसमें बाधा नहीं है। उस धर्म के माननेवालों का एकमत है, एक पथ है, उसमें कोई किसी से द्वेष नहीं करता, कोई किसी का बुरा नहीं चाहता, सब परस्पर प्रेम करते हैं। वह धर्म है परमेश्वर की ओर जाना। भगवद्भाव से

जो कर्म में लगता है उसकी शक्ति उसी प्रकार दूनी हो जाती है जैसे नदी में मिलने से नदी की।

गीता की टेक अथवा अन्तिम आदेश सब धर्मों को छोड़कर एक ईश्वरीय धर्म को ग्रहण करना है। इसी का नाम है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

सब धर्मों को छोड़ने की बात गीता की अपनी विशेषता है। त्याग का अर्थ जैसे कर्मों का त्याग नहीं, कर्म के अभिमान का त्याग है, उसी प्रकार धर्म छोड़ने का अर्थ है धर्मों के अभिमान और मिथ्यावाद का त्याग। धर्मों का सारतत्त्व उस परमात्मा को पाना है, उसी के लिये धर्म है, वह छूट नहीं सकता।

मामेकं शरणं व्रज—

का घोष हृदय को झकझोर कर आदेश देता है कि जिस धर्म में ईश्वर है, जिससे ईश्वर मिलता है, जिसका आचरण परमेश्वर में स्थित होकर होता है, उसी धर्म को जीवन का ध्येय बनाना चाहिये इतना हो जाने पर कोई बाधा नहीं रहती। शरी का धर्म, इन्द्रियों का धर्म, देश और जाति का ध

सबका एक लक्ष्य हो जाता है—ईश्वर-प्राप्ति। सब धर्मों के त्याग से गीता का अभिप्राय यही है।

ईश्वर की ओर जो बढ़ता है उसकी ओर परमेश्वर भी बढ़ता है। हृदय निर्भयता से भर जाता है, अनहद शब्द मानो स्पष्ट होकर कहता है कि अब मुझसे पाप नहीं हो सकेंगे। परमेश्वर मानव-हृदय के उन्हीं शब्दों को दोहरा देता है कि मैं तुझे पापों से मुक्त कर दूंगा। हृदय की यही शक्ति गीता की शक्ति है।

ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की उलझन अथवा चिन्ता नहीं रह जाती। मनुष्य को अपने पर विश्वास हो जाता है, उस विश्वास में जब भगवत्कृपा का योग मिलता है तब तो मानो ईश्वर का अभय दान मिल जाता है। सर्वत्र एक ही बात सुन पड़ती है—

माशुचः—चिन्ता मत करो!

"कर्म करो और चिन्ता न करो!"

यह गीता का प्रारम्भिक और अन्तिम मत है। आदि से अन्त तक गीता ने इसीकी पुष्टि की है।

मानव-मात्र के कल्याण के लिये श्री वेदव्यास वेदों का सम्पादन किया, परन्तु उन्हें इसलिये ान्ति नहीं मिली कि वेदों का महान् ज्ञान सर्वसुलभ ़हीं है। पंचम-वेद महाभारत की रचना इसी ुद्देश्य की पूर्ति के लिये हुई कि मनुष्य को वेदों का ज्ञान सुलभ हो जाय। परन्तु ग्रन्थ इतना विशाल बना कि उसे पढ़ने का धैर्य तप से भी अधिक कठिन हो गया।

लोक-कल्याण के विचार से व्यासजी ने वेदों और महाभारत के सार को गीता के सात-सौ श्लोकों में भर दिया। इतना करके भी उनका मन नहीं भरा, तब गीता सम्पूर्ण करते-करते एक ही श्लोक में सम्पूर्ण अर्थों को सूत्र में गूंथ दिया और उस एक श्लोक का सार जब एक शब्द में प्रकट हुआ तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो एक श्रीकृष्ण में सम्पूर्ण विश्व का दर्शन हो रहा हो। वह शब्द है—माशुचः— 'चिन्ता न करो।' अपनी चिन्ताओं को जो ईश्वर के अर्पण करके हल्का हो जाता है उसे हृदय से लगा

है। कर्म करके भी जो न किया-सा भान होता है उससे गीता की आरती उतरती है। कर्मयोगी जो बोलता है वह गीता का स्तवन है और जो देखता है वह गीता के प्राण भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन है। बार-बार गीता पढ़ लेने से कोई प्रयोजन नहीं, यदि यह निर्णय नहीं होता कि—

करिष्ये वचनं तव

'तुम्हारा कहा करूंगा।'

गीता की पूर्णता योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर अर्जुन को दो देह एक प्राण कर देने में है। ज्ञान के साथ कर्म; शास्त्र के साथ कला अथवा जोश के साथ होश उसी प्रकार है जैसे प्राणों के साथ शरीर। एक के बिना दूसरे का अस्तित्त्व नहीं। कर्म का गाण्डीव जिससे अर्जुन ने महाभारत का युद्ध जीता था, श्रीकृष्ण का साथ न होने से व्यर्थ हो गया अर्जुन गाण्डीव लिये खड़ा ही रह गया और उसके देखते-देखते डाकुओं ने लूट लिया। अतः कर्म के साथ भक्ति, नर के साथ नारायण की आवश्यकता

है। जहां ऐसा योग होता है, वहां श्री विजयविभूति
और नीति उमड़ कर इस प्रकार आती हैं जैसे
समुद्र में मिलने के लिये नदियां। यही गीता का
निर्णय है—

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

श्रीकृष्ण योगेश्वर जहां. अर्जुन धनुर्धारी जहां।
वैभव विजय श्री नीति सब मत से हमारे हैं वहां॥

ॐ तत्सत्

चरित्र के निर्माण और जीवन के विकास

में

सहायता और प्रकाश के लिये

मानवधर्म कार्यालय के प्रकाशन

विशेष उपयोगी हैं

●